तृतीय संस्करण : २००३ : मूल्य २)

मुद्रक–केशवप्रसाद खत्री,
इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०,
इलाहाबाद

प्रकाशक का वक्तव्य

बुंदेलखंड में ओरछा राज्य प्राचीन काल से हिन्दी साहित्य और कवियों का सम्मान करता आ रहा है। इस क्रम को वर्तमान नरेश सवाई महेन्द्र सर वीरसिंह जी देव ने अक्षुण्ण रक्खा है और संवत् १९९० वि० से प्रतिवर्ष किसी हिन्दी कवि के सम्मानार्थ २०००) का पुरस्कार देते आ रहे हैं। संवत् १९९४ में प्रतियोगिता के लिए आये हुए ग्रन्थों में से कोई रचना पुरस्कार योग्य नहीं समझी गई और इस कारण पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद् ने इस निधि में से १०००) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को 'देव पुरस्कार ग्रंथावली' के नाम से एक पुस्तक-माला प्रकाशित करने के लिए प्रदान किया। इस दान के लिये सम्मेलन श्रीमान् ओरछा-नरेश तथा पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति का कृतज्ञ है।

सम्मेलन की साहित्य समिति ने यह निश्चय किया है कि इस ग्रंथावली में आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित किए जायँ। इस माला की विशेषता यह होगी कि प्रत्येक कवि स्वयं अपनी कविताओं का चयन करेगा और स्वयं ही अपनी कविता का दृष्टिकोण पाठकों के सामने उपस्थित करेगा। प्रत्येक संग्रह के साथ कवि की हस्तलिपि का नमूना और उसकी प्रतिकृति का पेंसिल-स्केच भी रहेगा। इस प्रकार, आशा है, यह संग्रह अद्वितीय सिद्ध होगा और समस्त हिन्दी-प्रेमी जनता को राष्ट्रभाषा की नवीन काव्य-रचना की प्रगति को समझने और अध्ययन करने में सुविधा प्राप्त होगी।

प्रस्तुत संग्रह इस माला का द्वितीय पुष्प है। आधुनिक काल के कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पंत का एक विशेष स्थान है। प्रकृति की गोद में पले रहने के कारण उनकी कविताओं में उसके प्रति लोभ की स्पष्ट छाप मिलती है। हिन्दी साहित्य में पंत जी की कविताओं का अपना अलग व्यक्तित्व है तथा अपनी कला के भी वे एकमात्र प्रतिनिधि हैं। इस संग्रह के कवि की अपने काव्य के प्रति प्रकट की गई विचारधारा को पढ़ने के बाद पाठकों को कवि को समझने में विशेष सहायता मिलेगी।

साहित्य-मंत्री



लेखक

गीत

बाँध दिए क्यों प्राण
प्राणों से!
तुमने चिर अनजान
प्राणों से!

गोपन रह न सकेगी
अब यह मर्म कथा,
प्राणों की न रुकेगी
बढ़ती विरह व्यथा,
विवश फूटते गान
प्राणों से!

यह विदेह प्राणों का बंधन,
अंतर्ज्वाला में तपता तन,
मुग्ध हृदय सौन्दर्य ज्योति को
दग्ध कामना करता अर्पण!
नहीं चाहता जो कुछ भी आदान
प्राणों से!
बाँध दिए क्यों प्राण
प्राणों से!

पर्यालोचन

मैं अपने यत्किंचित् साहित्यिक प्रयासों को आलोचक की दृष्टि से देखने के लिए उत्सुक नहीं था, किंतु हिंदी साहित्य सम्मेलन की इच्छा मुझे विवश करती है कि मैं प्रस्तुत संग्रह में अपने बारे में स्वयं लिखूँ। संभव है, मैं अपने काव्य की आत्मा को, स्पष्ट और सम्यक् रूप से, पाठकों के सामने न रख सकूँ; पर, जो कुछ भी प्रकाश मैं उस पर डाल सकूँगा, मुझे आशा है, उससे मेरे दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी। पल्लव की भूमिका में, काव्य के बहिरंग पर, अपने विचार प्रकट करने के बाद यह प्रथम अवसर है कि मैं, अपने विकास की सीमाओं के भीतर से, काव्य के अंतरंग का विवेचन कर रहा हूँ। इस संक्षिप्त पर्यालोचन में जो कुछ भी त्रुटियाँ रह जायँ उनके लिए सहृदय सुज्ञ पाठक क्षमा करें।

इस सौ सवा सौ पृष्ठों के संग्रह में मेरी सभी संग्रहणीय कविताएँ अवश्य नहीं आ सकी हैं। पर जिन पथों का मेरी कल्पना ने अनुसरण किया है उन पर अंकित पद-चिह्नों का थोड़ा बहुत आभास इससे मिल सकता है; और, संभव है, अपने युग में प्रवाहित प्रमुख प्रवृत्तियों और विचारधाराओं की अस्पष्ट रूप-रेखाएँ भी इसमें मिल जायँ। अस्तु—

कविता करने की प्रेरणा मुझे सब से पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिनका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँद कर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज

में सुदूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील धूमिल, कूर्मांचल की छायांकित पर्वत श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमाचल को धारण की हुई हैं, और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाई हुई हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव संमोहन के आश्चर्य में डुबा कर, कुछ काल के लिए, भुला सकती हैं! और यह शायद पर्वत प्रांत के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह, निश्चय रूप से, अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जनसमूह से अब भी मैं दूर भागता हूँ, और मेरे आलोचकों का यह कहना कुछ अंशों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने आने में लजाती है।

मेरा विचार है कि वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी रूप में वर्तमान है।

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल में! कैसे उलझा दूँ लोचन?'—

आदि वीणा के चित्रण, प्रकृति के प्रति, मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं। प्रकृति निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना में अधिक सहायता मिली है, कहीं उससे विचारों की भी प्रेरणा मिली है। प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिला कर उन्हें ऐन्द्रिक चित्रण बनाया है, कभी कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना दिया है। यद्यपि 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'विश्ववेणु', 'एकतारा', 'नौकाविहार', 'पलाश', 'दो मित्र', 'झंझा में नीम', आदि अनेक रचनाओं में मेरे रूप-चित्रण के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखने वाली, नारी, के रूप में देखा है।

'उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही, मा,
वह अपनी वय वाली में'—

पंक्तियाँ मेरी इस धारणा की पोषक हैं। कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब मैंने अपने को भी नारी रूप में अंकित किया है। मेरी प्रारंभिक रचनाओं में इस प्रकार के हिप्नोटिज़्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

साधारणतर, प्रकृति के सुंदर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है, पर उसका उग्र रूप भी मैंने 'परिवर्तन' में चित्रित किया है। मानव स्वभाव का भी मैंने सुंदर ही पक्ष ग्रहण किया है, इसीसे मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कट कर भावी समाज की कल्पना की ओर प्रभावित हुआ है। यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है, यदि मैं संघर्षप्रिय अथवा निराशावादी होता तो 'Nature red in tooth and claw' वाला कठोर रूप, जो जीव विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर अधिक खींचता। किंतु 'वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भूपर' इस 'कोमल मनुज कलेवर' को भविष्य में अधिक से अधिक 'मनुजोचित साधन' मिल सकेंगे, और वह अपने लिए ऐसा 'मानवता का प्रसाद' निर्माण कर सकेगा जिसमें 'मनुष्य जीवन की क्षण धूलि' अधिक सुरक्षित रह सकेगी,—यह आशा मुझे अज्ञात रूप से सदैव आकर्षित करती रही है—

'मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,—मानव ईश्वर !
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर ?'

वीणा और पल्लव, विशेषतः, मेरे प्राकृतिक साहचर्य काल की रचनाएँ हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था, और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य

लिप्सा की पूर्ति करती थी, जिसके सिवा, उस समय, मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानंद और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति प्रेम के साथ ही, मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचारधारा का काफ़ी प्रभाव है। अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की हद तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मान कर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

'एक सौ वर्ष नगर उपवन,—एक सौ वर्ष विजन वन!
यही तो है असार संसार,—सृजन सिंचन, संहार!'—

आदि भावनाएँ मनुष्य को, अपने केन्द्र से च्युत करने के बाद, किसी सक्रिय सामूहिक प्रयोग के लिए अग्रसर नहीं करतीं, बल्कि उसे जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश भर देकर रह जाती हैं। इस प्रकार की अभावात्मकता (निगेटिविज्म) के मूल हमारी संस्कृति में मध्ययुग से भी गहरे घुसे हुए हैं, जिसके कारण, जातीय दृष्टि से, हम अपने स्वाभाविक आत्म-रक्षण के संस्कारों (सेल्फ़ प्रिज़र्वेटिव इंस्टिंक्ट्स) को खो बैठे हैं, और अपने प्रति किए गए अत्याचारों को थोथी दार्शनिकता का रूप देकर, चुपचाप, सहन करना सीख गए हैं। साथ ही हमारा विश्वास मनुष्य की संगठित शक्ति से हट कर आकाश कुसुमवत् दैवी शक्ति पर अटक गया है, जिसके फलस्वरूप हम देश पर विपत्ति के युगों में सीढ़ी दर सीढ़ी नीचे गिरते गए हैं।

पल्लव और गुंजन काल के बीच में मेरा किशोर भावना का सौन्दर्य स्वप्न टूट गया। पल्लव की 'परिवर्तन' कविता, दूसरी दृष्टि से, मेरे उस मानसिक परिवर्तन की भी द्योतक है। इसीलिए वह पल्लव में अपना विशेष व्यक्तित्व रखती है। दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे मनोजगत में मंथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और

उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीव जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी, वसंत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिपंजर!

'खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण!'
'वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार!'

मेरी जीव दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन व्यतीत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता के 'बुद्बुदों के व्याकुल संसार' में परिवर्तन ही एकमात्र चिरंतन सत्ता जान पड़ने लगी। मेरे हृदय की समस्त आशाऽकांक्षाएँ और सुख स्वप्न अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरंतन वास्तविकता का अंग बन जाने के लिये, लहरों की तरह, अज्ञात प्रयास की आकुलता में, ऊबडूब करने लगे।

किंतु दर्शन का अध्ययन विश्लेषण की पैनी धार से जहाँ जीवन के नाम रूप गुण के छिलके उतार कर मन को शून्य की परिधि में भटकाता है वहाँ वह छिलके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसी सूक्ष्म, संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनंद से मुग्ध और विस्मित कर देती है। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर कर दिया।

'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो लघु लघु तृण तरु पर हे चिर अव्यय चिरनूतन!'—

इसी सविशेष की कल्पना के सहारे, जिसने 'ज्योत्स्ना' को और गुंजन की 'अप्सरा' को जन्म दिया है, मैं पल्लव से गुंजन में अपने को सुंदरम् से

शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ। गुंजन में मेरी बहिर्मुखी प्रकृति, सुख दुःख में समत्व स्थापित कर, अंतर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है; साथ ही गुंजन और ज्योत्स्ना में मेरी कल्पना अधिक सूक्ष्म एवं भावात्मक हो गई है। गुंजन के भाषा संगीत में एक मुधरता, मधुरता और श्लक्ष्णता आ गई है जो पल्लव में नहीं मिलती। गुंजन के संगीत में एकता है पल्लव के स्वरों में बहुलता। पल्लव की भाषा दृश्य जगत् के रूप रंग की कल्पना से मांसल और पल्लवित है, गुंजन की भाषा भाव और कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुंजित। ज्योत्स्ना का वातावरण भी सूक्ष्म की कल्पना से ओतप्रोत है, उसका सांस्कृतिक समन्वय सर्वातिशयता (ट्रेन्सेन्डेन्टलिज़्म) के आलोक (दर्शन) को विकीर्ण करता है।

यह कहा जाता है कि मेरी कविताओं से सुंदरम् और शिवम् से भी बड़े लक्ष्य सत्यम् का बोध नहीं होता है, साथ ही उनमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं मिलती, जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह सच है कि व्यक्तिगत सुख दुःख की सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है। गुंजन में 'तप रे मधुर मधुर मन', 'मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना' आदि अनेक रचनाएँ मेरी इस रुचि की द्योतक हैं। मुझे लगता है कि सत्य शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप रंग है, फल में जीवनोपयोगी रस; और फूल की परिणति फल में गन्ध के निकलने द्वारा होती है, उसी प्रकार सुंदरम् की परिणति शिवम् में सत्य ही द्वारा हो जाती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत तथा उस उपयोगिता से संबंध रखने वाला सत्य में ओतप्रोत होना चाहिए, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है, और मेरी रचनाओं में उसका संबंध मेरे स्वभाव से है। सत्य के दोनों रूप हैं,—इसकी व्यापक सीमा है यह

सत्य है; उसे शराब नहीं पीना चाहिए, यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक (फैक्चुवल) रूप है, दूसरा परिणाम से संबंध रखने वाला। मेरी रचनाओं में सत्य के दूसरे पक्ष के प्रति मोह मिलता है; वह मेरा संस्कार है, आत्मविकास (सब्लिमेशन) की ओर जाना। अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करवा सकता है, मंगल का बोध अंतर्मुखी स्वभाव (इंट्रोवर्ट)। क्योंकि दूसरा कारण रूप अंतर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है। मेरे पल्लव काल की रचनाओं में, तुलनात्मक दृष्टि से, मानसिक संघर्ष और हार्दिकता अधिक मिलती है, और बाद की रचनाओं में आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा।

यदि मेरा हृदय अपने युग में बरते जाने वाले आदर्शों के प्रति विश्वास न खो बैठता तो मेरी आगे की रचनाओं में भी हार्दिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती। जब वस्तुजगत के जीवन से हृदय को भोजन अथवा भावना को उद्दीप्ति नहीं मिलती तब हृदय का सूनापन बुद्धि के पास, सहायता माँगने के लिए पुकार भेजता है।

'आते कैसे सूने पल, जीवन में ये सूने पल,

....

'खो देती उर की वीणा झंकार मधुर जीवन की'—

आदि उद्गार गुंजन में आए हैं। ऐसी अवस्था में मेरा हृदय वर्तमान जीवन के प्रति घृणा या विद्वेष की भावना प्रकट कर सकता, और मैं संदेहवादी या निराशावादी बन सकता था। पर मेरे स्वभाव ने मुझे रोका और मैंने इस बाह्य निश्चेष्टता और सूनेपन के कारणों को बुद्धि से सुलझाने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मेरी आगे की रचनाएँ भावनात्मक न रह कर बौद्धिक बनती गईं,—या मेरी भावना का मुख प्रकाशवान् हो गया? ज्योत्स्ना में मेरी भावना और बुद्धि के आवेशों का मिश्रित चित्रण मिलता है।

जब तक रूप का विश्व मेरे हृदय को आकर्षित करता रहा, जो कि एक किशोर प्रवृत्ति है, मेरी रचनाओं में ऐन्द्रिक चित्रणों की कमी नहीं रही। प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमशः सौन्दर्यप्रधान से भावप्रधान और भाव-प्रधान से ज्ञानप्रधान होती जाती है। बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है, वह हृदय की कृपणता से नहीं आती। परिवर्तन में भी मैंने यही बात कही है—

'वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप, लोकसेवा में शिव अधिकार!'

गुंजन से पहले—जब कि मैं परिस्थितियों के वश अपनी प्रवृत्ति को अंतर्मुखी बनाने के लिए बाध्य नहीं हुआ था,—मेरे जीवन का समस्त मानसिक संघर्ष और अनुभूति की तीव्रता 'ग्रंथि' और 'परिवर्तन' में प्रकट हुई। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, तब मैं प्राकृतिक दर्शन (नैचुरेलिस्टिक फ़िलासफ़ी) से अधिक प्रभावित था और मानवजाति के ऐतिहासिक संघर्ष के सत्य से अपरिचित था। दर्शन मनुष्य के वैयक्तिक संघर्ष का इतिहास है, विज्ञान सामूहिक संघर्ष का।

'मानवजीवन प्रकृति संचालन में विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर उसने की विश्व सभ्यता स्थापित'—

जीवन की इस ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार हम संसार में लोकोत्तर मानवता का निर्माण करने के अधिकारी हैं।

'अखिल विश्व में अमिलन,—द्विधागति, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं निर्जन, अहे निर्जन दीन निर्जन!'—

'प्राप्त नहीं मानव जग को यह मर्मोज्ज्वल उल्लास'

या

'कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख'

अथवा

'प्रकृतिधाम यह : तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण, जीवन्मृत !'—

आदि बाद की रचनाओं में मेरे हृदय का आकर्षण मानवजगत की ओर अधिक प्रकट होता है। ज्योत्स्ना तक मेरे सौन्दर्य बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिक हृदय को प्रभावित करती रही है, मैं तब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ। अपनी भावना की सहज दृष्टि को खो बैठने के कारण या उसके दब जाने के कारण, मैंने 'युगांत' में लिखा है,—

'वह एक असीम अखंड विश्व व्यापकता
खो गई तुम्हारी चिर जीवन सार्थकता !'

भावना की समग्रता को खो बैठने के कारण मैं, खंड खंड रूप में, संसार को, जग जीवन को समझने का प्रयत्न करने लगा। यह कहा जा सकता है कि यहाँ से मेरी काव्यसाधना का दूसरा युग आरंभ होता है। जीवन के प्रति एक अंतर्विश्वास मेरी बुद्धि का अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा और दिशाभ्रम के क्षणों में प्रकाश स्तंभ का काम देने लगा। जैसा कि मैंने 'युगांत' में भी लिखा है,—

'.........जीवन लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर;
पार करो विश्वास चरण धर !'

अब मैं मानता हूँ कि भावना और बुद्धि से, संश्लेषण और विश्लेषण से, हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं।

पल्लव से गुंजन तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं, और वे अलंकार भाषा संगीत को प्रेरणा देने वाले तथा भाव सौन्दर्य की पुष्टि करने वाले रहे हैं। बाद की रचनाओं में भाषा के अधिक गर्भित (एब्स्ट्रेक्ट) हो जाने के कारण मेरी अलंकारिता अभिव्यक्तिजनित हो गई है।

'नयन नीलिमा के लघु नभ में किस नव सुषमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा है रूप अपार ?'

की अलंकृत भाषा जिस प्रकार 'स्वप्न' का रूप चित्र सामने रखती है उसी प्रकार गीत-गद्य 'युगवाणी' की 'युग उपकरण' 'नव संस्कृति' आदि रचनाएँ मनोरम विचार चित्र उपस्थित करती हैं। 'पुण्यप्रसू', 'घननाद', 'रूपसत्य', 'जीवनस्पर्श' आदि रचनाओं में भी विषयानुकूल अलंकारिता का अभाव नहीं है। यदि यह मेरा सृजन आवेश मात्र नहीं है तो युगवाणी और ग्राम्या में मेरी कल्पना, ऊर्णनाभ की तरह, 'सूक्ष्म अमर अंतरजीवन का' मधुर वितान तान कर, देश और काल के छोरों को मिलाने में संलग्न रही है। इस ह्रास और विश्लेषण युग के स्वल्पप्राण लेखक की सृजनशील कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मानों की खोज ही में व्यय हो जाती है, उसका कलाकार स्वभावतः पीछे पड़ जाता है; अतएव उससे अधिक कला नैपुण्य की आशा रखना भी नहीं चाहिए।

युगवाणी का रूप पूजन समाज के भावी रूप का पूजन है। अभी जो वास्तव में अरूप हैं उसके कल्पनात्मक रूप चित्र को स्वभावतः अलंकृत होना चाहिए। युगवाणी में कहा भी है,—

'बन गए कलात्मक भाव जगत के रूप नाम'
'सुंदर शिव सत्य कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थूल जगजीवन से हो एक प्राण।'

'जगत के रूप नाम' से मेरा अभिप्राय नवीन सामाजिक संबंधों से निर्मित भविष्य के मानव संसार से है। जब हम कला को जीवन की अनुवर्तिनी मानते हैं तब कला का पक्ष गौण हो जाता है। विकास के युग में जीवन कला का अनुगामी होता है। युगवाणी में यह बात कई तरह व्यक्त की

गई है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सौन्दर्य कल्पना स्वयं ही अपना आभूषण है। 'रूप रूप बन जायँ भाव स्वर, चित्र गीत झंकार मनोहर' द्वारा भविष्य के अरूप सौन्दर्य का, रूप के पाश में बँधने के लिए, आवाहन किया गया है।

प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य संगीत भी खो बैठते हैं, उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते हैं। क्योंकि उनका रूप चित्र अभी सद्य होता है और उनके रस का स्वाद नवीन। 'मधुरता मृदुता सी तुम प्राण, न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात' उनके लिए भी चरितार्थ होता है। इसीसे उनकी अभिव्यंजना से अधिक उनका भावतत्व काव्यगौरव रखता है।

'तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार'

से भी मेरा यही अभिप्राय है कि संक्रांतियुग की वाणी के विचार ही उसके अलंकार हैं। जिन विचारों की उपयोगिता नष्ट हो गई है, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खिसक गई है, वे पथराए हुए मृत विचार भाषा को बोझिल बनाते हैं। नवीन विचार और भावनाएँ, जो हृदय की रस-पिपासा को मिटाते हैं, उड़ने वाले प्राणियों की तरह, स्वयं हृदय में घर कर लेते हैं। आने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणत्व से रसमयी होगी, नवीन विचारों के ऐश्वर्य से सालंकार, और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और सांकेतिक हो जाएँगे।

छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध, और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में छाया-

वाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्यबोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था, और उसका भाव शरीर द्विवेदी युग के काव्य की परंपरागत सामाजिगता से पृथक् हो गया था। किंतु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका था। उसमें व्यावसायिक क्रांति और विकास-वाद के बाद का भावना-वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके 'हासअश्रु आशाऽ-कांक्षा' 'खाद्यमधुपानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सब्जेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक और आवरण मात्र रह गया। दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले, हिन्दी कविता, छायावाद के रूप में, ह्रासयुग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं संबंधी स्वप्नों, निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी, और व्यक्तिगत जीवन संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर, भीतर बाहर में, सुख दुख में, आशा-निराशा, और संयोग वियोग के द्वन्दों में सामञ्जस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।

महायुद्ध के बाद की अंग्रेजी कविता भी अतिवैयक्तिकता, बौद्धिकता दुरूहता, संघर्ष, अवसाद, निराशा आदि से भरी हुई है। वह भी उन्नीसवीं सदी के कवियों के भाव और सौन्दर्य के वातावरण से कट कर अलग हो गई है। किंतु उसकी करुणा और क्षोभ की प्रतिक्रियाएँ व्यक्तिगत असंतोष के संबंध में न रख कर वर्ग एवं सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से संबंध रखती हैं। वह वैयक्तिक स्वर्ग की कल्पना से प्रेरित न होकर सामाजिक पुनर्निर्माण की भावना से अनुप्राणित है। उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध इंगलैंड में मध्यवर्गीय संस्कृति का चरमोन्नत

युग रहा है, महायुद्ध के बाद उसमें विश्लेषण के चिह्न प्रकट होने लगे। छायावाद और उत्तरयुद्धकालीन अंग्रेज़ी कविता, दोनों, भिन्न भिन्न रूप से, इस संक्रांतियुग के स्नायविक विक्षोभ की प्रतिध्वनियाँ हैं।

पल्लवकाल में मैं उन्नीसवीं सदी के अंग्रेज़ी कवियों—मुख्यतः शेली, वर्डसवर्थ, कीट्स, और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीनयुग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन युग की, सौन्दर्य कल्पना ही में परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का स्लोगन भी रहा है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करता हूँ। और यदि लिखना एक unconsious-conscious process है तो मेरे उपचेतन ने इन कवियों की निधियों का यत्रतत्र उपयोग भी किया है, और उसे अपने विकास का अंग बताने की चेष्टा की है।

ऊपर मैं एक अखंड भावना की व्यापकता को खो बैठने की बात लिख चुका हूँ। अब मैं जानता हूँ कि वह केवल सामंत युग की सांस्कृतिक भावना थी जिसे मैंने खोया था, और उसके विनाश के कारण मेरे भीतर नहीं बल्कि बाहर के जगत में थे। इस बात को ग्राम्या में मैं निश्चय पूर्वक लिख सका हूँ—

'गत संस्कृतियों का, आदर्शों का था नियत पराभव !'
'वृद्ध विश्व सामंतकाल का था केवल जड़ खँडहर !'

'युगांत' के 'बापू' ('बापू के प्रति') सामंत युग के सूक्ष्म के प्रतीक हैं, 'ग्राम्या' के 'महात्मा' ('महात्मा जी के प्रति' में) ऐतिहासिक स्थूल के सन्मुख 'विजित नर वरेण्य' हो गए हैं, जो वर्तमान युग की पराजय है।

'हे भारत के हृदय, तुम्हारे साथ आज निःसंशय
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर !'

भावी सांस्कृतिक क्रांति की ओर संकेत करता है।

हम सुधार और जागरण काल में पैदा हुए, किंतु, युग प्रगति से बाध्य होकर, हमें संक्रांति युग की विचारधारा का वाहक बनना पड़ा है। अपने जीवन में हम अपने ही देश में कई प्रकार के सुधार और जागरण के प्रयत्नों को देख चुके हैं। उदाहरणार्थ, स्वामी दयानंद जैसे सुधारवादी थे जिन्होंने मध्ययुग की संकीर्ण रूढ़िरीतियों के बंधनों से इस जाति और संप्रदायों में विभक्त हिन्दू धर्म का उद्धार करने की चेष्टा की। श्री परमहंस देव और स्वामी विवेकानंद का युग भारतीय दर्शन के जागरण का युग रहा है। उन्होंने मनुष्य जाति के कल्याण के लिए धार्मिक समन्वय करने का प्रयत्न किया। डा० रवीन्द्रनाथ का युग विश्वव्यापी सांस्कृतिक समन्वय पर ज़ोर देता रहा है।

'युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नव संस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर'

कवीन्द्र की प्रतिभा के लिए भी लागू होता है। वह एक स्थान पर अपने बारे में लिखते भी हैं, "मैं समझ गया कि मुझे इस विभिन्नता में व्याप्त एकता की सत्य का संदेश देना है।" डा० टैगोर के जीवन-मान भारतीय दर्शन के साथ ही मानव-शास्त्र (एंथ्रोपोलॉजी), विश्ववाद और अंतर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं। उनके युग का प्रयत्न भिन्न भिन्न देशों और जातियों की संस्कृतियों के मौलिक सारभाग से मानव जाति के लिए विश्व संस्कृति का पुनर्निर्माण करने की ओर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्य की देश काल जनित धारणाओं में प्रकारांतर उपस्थित हो जाने के कारण एवं आवागमन की सुविधाओं से भिन्न भिन्न देशों और जातियों के मनुष्य में परस्पर का संपर्क बढ़ जाने के कारण उस युग के विचारकों का मानव जाति के आंतरिक (सांस्कृतिक) एकीकरण करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। महात्मा जी भी, इसी प्रकार, विकसित व्यक्तिवाद के मानों का पुनर्जागरण कर, भिन्न भिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बीच,

न राम' वाली एकनिष्ठ पत्नी नहीं,—लाख प्रयत्न करने पर भी उसका न वंशीध्वनि पर मुग्ध हो जाता है, वह विह्वल है, उच्छ्वसित है। सामंत ग की नैतिकता के तंग अहाते के भीतर, श्रीकृष्ण ने, विभव युग के नर ारियों के सदाचार में भी, क्रांति उपस्थित की है। श्रीकृष्ण की गोपियाँ, अभ्युदय के युग में, फिर से गोप संस्कृति का लिबास पहनती हुई दिखाई देती हैं।

भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप हमें मध्ययुग में देखने को मिलता है वह श्री तुलसी रामायण में सुरक्षित है। तुलसी ने 'कृषि-मन युग अनुरूप किया निर्मित।' देश की पराधीनता और ह्रास के युग में संस्कृति के संरक्षण के लिए प्रयत्न शुरू हुए। अन्य संस्कृतियों से ग्रहण कर सकने की उसकी प्राणशक्ति मंद पड़ गई, और भारतीय संस्कृति का गतिशील जीवन द्रव जातियों, संप्रदायों, संघो, मतों, रूढ़ि रीति नीतियों और परंपरागत विश्वासों के रूप में जम कर कठोर एवं निर्जीव हो गया। आर्थिक और राजनीतिक पराभव के कारण, जनसाधारण में देह की अनित्यता, जीवन का मिथ्यापन, संसार की असारता, मायावाद प्रारब्धवाद वैराग्य भावना आदि, ह्रासयुग के अभावात्मक विचारों और आदर्शों का प्रचार बढ़ने लगा। जिस प्रकार कृषि युग ने पशुजीवी युग के मनुष्य की अंतर्बाह्य चेतना में प्रकारांतर उपस्थित कर दिया उसी प्रकार यंत्र का आगमन सामंत युग की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन लाने की सूचना देता है। सामंत युग में भी, समय समय पर, छोटी बड़ी विशिष्ट युग की गण संस्कृतियों का समन्वय हुआ है, तथा सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, और धार्मिक क्रांतियाँ हुई हैं, किंतु, उन सब के नैतिक मानों और आदर्शों को सामंतयुग की परिस्थितियों ही ने प्रभावित किया है। भविष्य में इस प्रकार के सभी प्रयत्नों से संबंध रखने वाले मौलिक सिद्धांतों और मानों को यंत्र युग की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ निर्धारित करेंगी।

यंत्र युग के दर्शन को हम ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं जो

उन्नीसवीं सदी के संकीर्ण भौतिकवाद से पृथक् है। नवीन भौतिकवाद दर्शन और विज्ञान का, मानव सभ्यता के अंतर्बाह्य विकास का, ऐतिहासिक समन्वय है।

'दर्शन युग का अंत, अंत विज्ञानों का संघर्षण,
अब दर्शन-विज्ञान सत्य का करता नव्य निरूपण।'

वह मनुष्य के सामाजिक जीवन विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। सामाजिक प्रगति के दर्शन के साथ ही वह उसे सामूहिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य नवीन तंत्र (स्टेट) का भी विधायक है।

'विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन।
सामाजिक संबंध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन,
नव विचार, नव रीति नीति, नव नियम, भाव, नव दर्शन।'

इतिहास विज्ञान के अनुसार जैसे जैसे जीवनोपाय के साधन स्वरूप हथियारों और यंत्रो का विकास हुआ है मनुष्य जाति के रहन-सहन और सामाजिक विधान में भी युगांतर हुआ। नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सबंध स्थापित हुए हैं और उन्हीं के प्रतिरूप रीति नीतियों, विचारों एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। साथ ही उत्पादन के नवीन यंत्रों पर जिस वर्ग विशेष का अधिकार रहा है, उसके हाथ जनसाधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसीने जन समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है। पूँजीवादी युग ने संसार को जो 'विविध ज्ञान विज्ञान, कला यंत्रों का अद्भुत कौशल' दिया है उसके अनुरूप सभ्यता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूँजीवादी प्रथा ही है, जिसकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नष्ट हो गई है। आज, जब कि संसार में इतिहास का सब से बड़ा युद्ध हो रहा है, और जिसके बाद पूँजीवादी साम्राज्यवाद का—जिसका हिंस्र रूप फ़ासिज़्म है—शायद, अंत भी हो

जाय, इस प्रथा के विरोधों का विवेचन करना पिष्टपेषण के समान है। जहाँ मनुष्य स्वभाव की सीमाएँ, एक ओर, वर्ग संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप में, मानव जाति के रक्त का उग्र प्रयोग करवा रही हैं, दूसरी ओर, मनुष्य की विकास प्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त साहित्य एवं विचारों का प्रचार कर, नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए, सांस्कृतिक प्रयोग भी कर रही है। भले ही इस समय उसकी देन अत्यंत स्वल्प हो और अंधकार की प्रवृत्तियों पर कुछ समय के लिए विजयी हो रही हों, किंतु एक कलाकार और स्वप्न स्रष्टा के नाते मैं दूसरे प्रकार की—सांस्कृतिक अभ्युदय की—शक्तियों को बढ़ाने का पक्षपाती हूँ।

'राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख'

....

'आज वृहत सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित।'

यंत्रों का पक्ष भी मैंने इसीलिए ग्रहण किया है कि वे मानव समूह की सांस्कृतिक चेतना के विकास में सहायक हुए हैं।

'जड़ नहीं यंत्र, वे भाव रूप : संस्कृति द्योतक।

....

वे कृत्रिम निर्मित नहीं, जगत क्रम में विकसित।

....

दार्शनिक सत्य यह नहीं,—यंत्र जड़, मानव कृत,
वे हैं अमूर्त : जीवन विकास की कृति निश्चित !'

मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसकी वस्तु-परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक संबंधों का प्रतिबिम्ब है। यदि हम वाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन ला सकें तो हमारी आंतरिक धारणाएँ भी उसीके अनुरूप बदल जाएँगी।

'कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण।

भौतिक भव ही एकमात्र मानव का अंतरदर्पण।
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
वाह्य विवर्तन से होता युगपत् अंतर परिवर्तन।'

जब हम कहते हैं कि आने वाला युग आमूल परिवर्तन चाहता है तो वह अंतर्वहिर्मुखी दोनों प्रकार का होगा। सामंत युग की परिस्थितियों की सीमाओं के भीतर व्यक्ति का विकास जिस सापेक्ष पूर्णता तक पहुँच सका अथवा उस युग के सामूहिक विकास की पूर्णता व्यक्ति की चेतना में जिन विशिष्ट गुणों में प्रतिफलित हुई सामंत काल के दर्शन ने व्यक्ति के स्वरूप को उसी तरह निर्धारित किया है। यंत्र युग के सामूहिक विकास की पूर्णता उस धारणा में मौलिक (प्रकार का) परिवर्तन उपस्थित कर सकेगी।

प्रकृति और विवेक की तरह मनुष्य स्वभाव के बारे में भी कोई निश्चयात्मक (पॉज़िटिव) धारणा नहीं बनाई जा सकती। मनुष्य एक विवेकशील पशु है कहना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसके मौलिक संस्कारों के संबंध में वस्तु-जगत की परिस्थितियों से प्रभावित होती है, वे परिस्थितियाँ ऐतिहासिक दिशा में विकसित होती रहती हैं। मनुष्य के मौलिक संस्कारों का देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार जो मान निर्धारित हो जाता है, अथवा उनके उपयोग के लिए जो सामाजिक प्रणालियाँ बँध जाती हैं, उनका वही व्यावहारिक रूप संस्कृत से संबद्ध है।

हम आने वाले युग के लिए 'स्थूल' को (यंत्रयुग की विकसित ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रतीक को) इसलिए 'सूक्ष्म' (भावी सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) मानते हैं कि हमारे विगत सांस्कृतिक सूक्ष्म की पृष्ठ-भूमि विकसित व्यक्तिवाद के तत्त्वों से बनी है, और हम जिस स्थूल को कल का 'शिव सुंदर सत्य' मानते हैं वह स्थूल प्रतीक है सामूहिक विकासवाद का।

'स्थूल युग का शिव सुंदर सत्य, स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण!'

सामंत युग में जिस प्रकार सामाजिक रहन-सहन और शिष्टाचार की सत्य राजा से प्रजा की ओर प्रवाहित हुई है उसी प्रकार नैतिक सदाचार और आदर्श उस युग के सगुण की दिशा में विकसित व्यक्ति से जन-साधारण की ओर। आज के व्यक्ति की प्रगति सामूहिक विकासवाद की दिशा की होनी चाहिए न कि सामंत युग के लिए उपयोगी विकसित व्यक्तिवाद की दिशा को। 'तब वर्ग व्यक्ति गुण, जनसमूह गुण अब विकसित',—सामंत युग का नैतिक दृष्टिकोण, उस युग की परिस्थितियों के कारण, तथोक्त उच्च वर्ग के गुण (क्वालिटी) से प्रभावित था।

आने वाला युग सामंत युग की नैतिकता के पाश से मनुष्य को बहुत कुछ अंशों में मुक्त कर सकेगा। और उसका 'पशु' (मौलिक संस्कारों संबंधी सामंतकालीन नैतिक मान), विकसित वस्तु-परिस्थितियों के फलस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से, बहुत कुछ अंशों में 'देव' (सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) बन सकेगा।

'नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित,
जीवन यापन कर न सके जन इच्छित।

....

देव और पशु भावों में जो सीमित
युग युग में होते परिवर्तित, अवसित।'

भावी सामाजिक सदाचार मनुष्य के मौलिक संस्कारों के लिए अधिक विकसित सामाजिक संबंध स्थापित कर सकेगा।

'अति मानवीय था निश्चय विकसित व्यक्तिवाद,
मनुजों में जिसने भरा देव पशु का प्रमाद'

और

'मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण, असुंदर को सुंदर'—

आदि विचार मनुष्य के दैहिक संस्कारों के प्रति इसी प्रकार के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं।

मनुष्य क्षुधाकाम की प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर सामाजिक संगठन की ओर, और जरामरण के भय से आध्यात्मिक सत्य की खोज की ओर अग्रसर हुआ है। भौतिक दर्शन का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में जिसमें कि अधिकाधिक मनुष्यों को क्षुधा-काम की परितृप्ति के लिए पर्याप्त साधन मिल सकते हैं और वे वर्तमान युग की संरक्षण हीनता से मुक्त हो सकते हैं, उन्हें अपने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए भी अधिक अवकाश और सुविधाएँ मिल सकेंगी। एक ओर समाजवादी विधान, उत्पादन यंत्रों की सामाजिक उपयोगिता बढ़ाकर, मनुष्य को वर्तमान आर्थिक संघर्ष से मुक्त कर सकेगा, दूसरी ओर वह उसे सामंतवादी सांस्कृतिक मानों की संकीर्णता से मुक्ति दे सकेगा, जिनकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नहीं रह गई है और जिनकी धारणाएँ आमूल विकसित एवं परिवर्तित हो गई हैं। यदि भावी समाज मनुष्य को रोटी (जन आवश्यकताओं का प्रतीक) की चिन्ता से मुक्त कर सका तो उसके लिए केवल सांस्कृतिक संघर्ष का प्रश्न ही शेष रह जाएगा। प्रत्येक धर्म और संस्कृति ने अपने देशकाल से संबंध रखने वाले सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष (संपूर्ण) सत्य का रूप देकर, मनुष्य के (स्वर्ग नरक संबंधी) सुख और भय के संस्कारों से लाभ उठाकर, उसकी चेतना में धार्मिक और सामाजिक विधान स्थापित किए हैं जो कि सामंत युग की परिस्थितियों को सामने रखते हुए, व्यावहारिक दृष्टि से उचित भी था। इस प्रकार प्रत्येक युग पुरुष, राम कृष्ण बुद्ध आदि, जो कि अपने युग के सापेक्ष के प्रतीक हैं, जनता द्वारा शाश्वत पुरुष (निरपेक्ष) की तरह माने और पूजे गए हैं। सामंत कालीन उदात्तनायक के रूप में हमारे साहित्य के 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के शाश्वत मान भी केवल उस युग के सगुण से संबंध रखने वाली सापेक्ष धारणाएँ मात्र हैं। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, मनुष्य के मौलिक संस्कार, क्षुधा-काम आदि, निरपेक्षतः कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं रखते। सभ्यता के युगों की विविध परिस्थितियों के

अनुरूप उनका जो 'व्यावहारिक' सामाजिक और नैतिक मूल्य निर्दिष्ट हो जाता है उसीका प्रभाव मनुष्य के सत्य शिव सुंदर की भावनाओं में भी पड़ता है। मनुष्य की दैहिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना विशद् सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा, उसीके अनुरूप, जन समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक सदाचार और व्यक्ति की आवयश्कताओं की सीमाएँ एक दूसरे में लीन हो जाएँगी, उस स माज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जाएगा, व्यक्ति के क्षुद्र देह ज्ञान की (अहमात्मिका) भावना विकसित हो जाएगी; उसके भीतर सामाजिक व्यक्तित्व स्वतः कार्य करने लगेगा, और इस प्रकार व्यक्ति अपने सामूहिक विकास की आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँच जाएगा।

सामंत युग के स्त्री पुरुष संबंधी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यंत संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर यष्टि रहा है! उस सदाचार के एक अंचल छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बालविधवा अपनी छाती से चिपकाई हुई है और दूसरे छोर को उस युग की देन वेश्या। 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' के अनुसार उस युग के आर्थिक विधान में भी स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं, और वह पुरुष की संपत्ति समझी जाती रही है। स्त्री स्वातंत्र्य संबंधी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियों के साथ ही हो रहा है। स्त्रियों का निर्वाचन अधिकार संबंधी आंदोलन बूर्ज्वा संस्कृति एवं पूँजीवादी युग की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। सामंत युग की नारी नर की छाया मात्र रही है।

'सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूतयोनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
वह समाज की नहीं इकाई—शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलंबित।
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित

उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।'

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संसार अभी सामंत युग की क्षुद्र नैतिक और सांस्कृतिक भावनाओं ही से युद्ध कर रहा है, पृथ्वी पर अभी यंत्र युग प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। आने वाला युग मनुष्य की क्षुधा-काम की प्रवृत्तियों में विकसित सामाजिक सामंजस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एवं सत्यं शिवं सुंदरम् की धारणाओं में प्रकारांतर उपस्थित कर सकेगा।

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय आध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अंदर श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग संघर्ष आदि से संबंध रखने वाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रांतियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से, मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदांत में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ द्रष्टा की खोज में, सापेक्ष के उस पार, 'अवाङ् मनस गोचरं' की ओर चले गए हैं वहाँ पश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अन्तस्तल तक डुबकी लगा कर, उसके आलोक में, जनसमाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैधानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास भी वहीं हो सका है।

फ्रायड जैसे अंतरतम के मनोवैज्ञानिक 'इड' के विश्लेषण में सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नहीं देते हैं। वहाँ अवचेतन (अनकांसस) पर, विवेक का नियंत्रण न होने के कारण, वे भ्रांति पैदा होने का भय बतलाते हैं। भारतीय तत्वद्रष्टा, शायद, अपने सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्ष के उस पार सफलता-पूर्वक पहुँच कर 'तदंतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः' सत्य की प्रतिष्ठा कर सके हैं।

मैं, आध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शनों के सिद्धांतों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की, सामंत कालीन परिस्थितियों के कारण जो एकांत परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार मात्र हैं), और मार्क्स के दर्शन की, पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्गयुद्ध और रक्तक्रांति में परिणत हुई है,—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।

आध्यात्म दर्शन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सापेक्ष जगत ही सत्य नहीं, इससे परे जो निरपेक्ष सत्य है वह मन और बुद्धि से अतीत है। किंतु इस सापेक्ष जगत का—जिसका संबंध मानव जाति की संस्कृतियों—आचार विचार, रीति नीति और सामाजिक संबंधों से है—विकास किस प्रकार हुआ, इस पर ऐतिहासिक दर्शन ही प्रकाश डालता है। हमारे सांस्कृतिक हृदय के सत्यं शिवं सुंदरम्' का बोध सापेक्ष है, सत्य इस सूक्ष्म से भी परे है—, यह आध्यात्म दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। जीवन शक्ति गतिशील (डाइनेमिक) है, सामंत कालीन सूक्ष्म से अथवा विगत सांस्कृतिक मानों और आदर्शों से मानव समाज का संचालन भविष्य में नहीं हो सकता, उसे नवीन जीवन मानों की आवश्यकता है, जिसके ऐतिहासिक कारण हैं, आदि,—यह आधुनिक भौतिक दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। एक जीवन के सत्य को ऊर्ध्वतल पर देखता है, दूसरा समतल पर।

समन्वय के सत्य को मानते हुए भी मैं जो दृश्य दर्शन (ऑबजेक्टिव फ़िलॉसफ़ी) के सिद्धांतों पर इतना ज़ोर दे रहा हूँ इसका यही कारण है कि परिवर्तन युग में भाव दर्शन (सबजेक्टिव फ़िलॉसफ़ी) की—जो कि अभ्युदय और जागरण युग की चीज़ है—उपयोगिता प्रायः नष्ट हो जाती है। सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अंधकार में फैले, इस मध्यकालीन संस्कृति के ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ को, जड़ और

शाखा सहित, उखाड़ कर फेंक देना होगा। और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न और विचार संग्राम करना पड़ेगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तुस्थितियों में हों। भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते, जिसका चरमविकास अद्वैतवाद में हुआ है। यह मध्य-कालीन आकाशलता शताब्दियों के अंधविश्वासों, रूढ़ियों, प्रथाओं और मतमतांतरों की शाखाप्रशाखाओं में पूँजीभूत और विच्छिन्न होकर, एवं हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड़ कर, उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त को शोषण करने वाली व्याधि से मुक्त हुए बिना, और नवीन वास्तविकता के आधारों और सिद्धांतों को ग्रहण किए बिना, हम में वह मानवीय एकता, जातीय संगठन, सक्रिय चैतन्यता, सामूहिक उत्तरदायित्व, परोक्ष और विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नहीं आ सकती, जिसकी कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महाप्राणता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। युग के सृजन एवं निर्माण काल में संस्कृति के मूल सदैव परिस्थितियों की वास्तविकता ही में होते हैं, वह अधोमूल वास्तविकता, समय के साथ साथ, विकास एवं उत्कर्ष काल में, ऊर्ध्वमूल (भावरूप) सांस्कृतिक चेतना बन जाती है। आज जब कि पिछले युगों की वास्तविकता आमूल परिवर्तित और विकसित होने जा रही है, हमारी संस्कृति को, नवीन जन्म के प्रयास में, फिर से अधोमूल होना ही पड़ेगा। हम शताब्दियों से एक ही मूल सत्य को नित्य नवीन रूप (इंटरप्रटेशंस) देते आए हैं, अब उस सामंत युग की, नवीन वस्तुपरिस्थितियों के अनुरूप, रूपांतरित होने की मौलिक क्षमता समाप्त हो गई है, क्योंकि विगत युगों की वास्तविकता आज तक मात्राओं में घट बढ़ रही थी, अब वह प्रकार में बदल रही है।

मनुष्य का विकास समाज की दिशा को होता है, समाज का इतिहास की दिशा को,—इस ऐतिहासिक प्रगति के सिद्धांत को हम

इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं।

'अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय, निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।'

भौतिक दर्शन 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सत्य को सामाजिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य समाजवादी विधान का जन्मदाता है। भारतीय दर्शन अद्वैतवाद के सत्य को देशकाल के भीतर (संस्कृति के रूप में) प्रतिष्ठित करने के योग्य विधान को जन्म देना सामंत युग की परिस्थितियों के बाहर था। उसके लिए एक ओर भौतिक विज्ञान के विकास द्वारा भौतिक शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की ज़रूरत थी, दूसरी ओर मनुष्य की सामूहिक चेतना के विकास की। जीवन की जिस पूर्णता के आदर्श को मनुष्य आज तक अंतर जगत में स्थापित किए हुए था, अब उसे, एक सर्वाङ्गपूर्ण तंत्र के रूप में, वह बहिर्जगत में स्थापित करना चाहता है। रहस्य और अलौकिकता के प्रति अब उसकी धारणा अधिक बौद्धिक और वास्तविक हो रही है। आने वाला युग सामंत युग के स्वर्ग की अंतर्मुखी कल्पना और स्वप्नों को सामाजिक वास्तविकता का रूप दे सकेगा। मनुष्य का सृजन शक्ति का ईश्वर लोक-कल्याण के ईश्वर में विकसित हो जाएगा।

'स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव, स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अंतर जग ही बहिर्जगत बन जावे, वीणा पाणि, इ!'

भौतिक जगत की प्रारंभिक कठोर परिस्थितियों से कुंठित 'आदिम मानव' की हिंस्र आत्मा नवीन परिस्थितियों के प्रकाश में डूब कर आलोकित हो जाएगी और यंत्रयुग के साथ साथ मानव सभ्यता में स्वर्णयुग पदार्पण कर सकेगा। ऐसी सामाजिकता में मनुष्य जाति 'अहिंसा' को भी व्यावहारिक सत्य में परिणत कर सकेगी।

'मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद'—

वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध के युग में उपर्युक्त विवेचना के लिए शायद

ही दो मत हो सकते हैं।

यदि स्वर्ण युग की आशा आज की अतृप्त आकांक्षा की काल्पनिक पूर्ति और पलायन प्रवृत्ति का स्वप्न भी है तो वह इस युग की मरणासन्न वास्तविकता से कहीं सत्य और अमूल्य है। यदि इस विज्ञान के युग में, मनुष्य, अपनी बुद्धि के प्रकाश और हृदय की मधुरिमा से, अपने लिए पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण नहीं कर सकता और एक नवीन सामाजिक जीवन आज के रिक्त और संदिग्ध मनुष्य में जीवन के प्रति नवीन अनुराग, नवीन कल्पना और स्वप्न नहीं भर सकता तो, यह कहीं अच्छा है कि, इस 'दैन्य जर्जर, अभाव ज्वर पीड़ित', जाति वर्ग में विभाजित, रक्त की प्यासी मनुष्य जाति का अंत हो जाय। किंतु जिस जीवन शक्ति की महिमा युग युग के दार्शनिक और कवि गाते आए हैं, जिसके क्रिया कलापों और चमत्कारों का विश्लेषण कर आज के वैज्ञानिक चकित और मुग्ध हैं, वह सर्वमयी शक्ति केवल पृथ्वी का गौरव मानव जाति के विश्व को ही इस प्रकार जीता जागता नरक बनाए रहेगी, इस पर किसी तरह विश्वास नहीं होता।

इन्हीं विचारधाराओं, स्वप्नों और कल्पना से प्रेरित होकर मैंने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को जन्म दिया। ग्राम्या के लिए युगवाणी पृष्ठभूमि का काम करती है। ग्राम्या की भूमिका में मैंने ग्रामीणों के प्रति अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूति की बात लिखी है, उस पर मेरे आलोचकों ने मुझ पर आक्षेप किए हैं। 'ग्राम जीवन में मिल कर, उसके भीतर से' मैं इसलिए नहीं लिख सका कि मैंने ग्रामजनता को 'रक्त मांस के जीवों' के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है, और ग्रामों को सामंत युग के खँडहर के रूप में।

'यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।'
'मानव दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत, मर्मांतक
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक।'

इसी ग्राम्य को मैंने ग्राम्या की रंगहीन रंगभूमि बनाया है।

'रूढ़ि ...र्यों के प्रचलित पथ, जाति पाँति के बंधन,
नियत कर्म हैं, नियत कर्मफल,—जीवन चक्र सनातन !'

सांस्कृतिक दृष्टि से जिस प्रिय अप्रिय या सत्य मिथ्या के बोध से उनका जीवन परिचालित होता है उसकी ऐतिहासिक उपयोगिता नष्ट हो चुकी है।

'ये जैसे कठपुतले निर्मित....युग युग की प्रेतात्मा अविदित
इनकी गति विधि करती यंत्रित।'—

यह बात 'सारा भारत है आज एक रे महाग्राम' के लिए भी चरितार्थ होती है। इस प्रकार मैंने ग्रामीणों को भावी के 'स्वप्नपट' में चित्रित किया है, जिसमें—

'आज मिट गए दैन्य दुःख सब क्षुधा तृषा के क्रंदन
भावी स्वप्नों के तट पर युग जीवन करता नर्तन।
ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे,—मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल मिट गई मनुज जीवन से।'

जिसकी तुलना में उनकी वर्तमान दशा 'ग्राम आज है पृष्ठ जनों की जीवित'—प्रमाणित हुई है।

किंतु जनता की इस सांस्कृतिक मृत्यु के कारणों पर नवीन विचार-धारा पर्याप्त प्रकाश डालती है और वहाँ वे व्यक्ति नहीं रहते प्रत्युत एक प्रणाली के अंग बन जाते हैं। इसीलिए मैं उन्हें बौद्धिक सहानुभूति दे सका हूँ।

'आज असुंदर लगते सुंदर, प्रिय पीड़ित शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव मुख हरता मन !'

या

'वृथा धर्म गण तंत्र,—उन्हें यदि प्रिय न जीव जन जीवन'

अथवा

'इन कीड़ों का भी मनुज बीज, यह सोच हृदय उठता पसीज'

आदि पंक्तिएँ हार्दिकता से शून्य नहीं हैं। यदि मुझे ... युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता तो जनता ... ारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती। तब मैं लिखता, ... ड तालाब में (जन मन में) काई लग गई है, इसे हटाना भर है; इ... अंदर का जल अभी निर्मल है... —जो पुनर्जागरण की ओर लक्ष्य करता। पर मैंने लिखा है,— ... तालाब का पानी सड़ गया है, इस कृमिपूर्ण जल से काम नहीं च... है, उसमें भविष्य के लिए उपयोगी नया जल (संस्कृति) भरना पड़ेगा। ...—जो सांस्कृतिक क्रांति की ओर लक्ष्य करता है। मैंने 'यहाँ धरा का' मुख कुरूप है' ही नहीं कहा है 'कुत्सित गर्हित जन का जीवन' भी कहा है। जहाँ आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है वहाँ केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता है? वह तो ग्रामीणों के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने या पराधीन क्षुधा ग्रस्त किसानों को तपस्वी की उपाधि देने ... सिवा हमें आगे नहीं ले जा सकती। इस प्रकार की थोथी सहानुभूति या दया काव्य (पिटी पोयट्री) से मैंने 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा', 'ग्रामवधू', 'नहान' आदि कविताओं को बचाया है जिनमें, वर्तमान प्रणाली के शिकार, ग्रामीणों की दुर्गति का वर्णन होने के कारण ये बातें सहज ही में आ सकती थीं।

डी० एच० लारेंस ने भी निम्न वर्ग की मानवता का चित्रण किया है और वह उन्हें हार्दिकता दे सका है, पर हम दोनों के साहित्यिक उपकरणों में बड़ा भारी अंतर है। उसकी सर्वहारा (मशीन के संपर्क में आई हुई जनता) की बीमारी उनके राजनीतिक वर्ग संस्कार हैं जिनका लारेंस ने चित्रण किया है। अपने देश के जन समूह (मॉब) की बीमारी उससे कहीं गहरी, आध्यात्मिकता के नाम में रूढ़ि रीतियों एवं अंधविश्वासों के रूप में पथराए हुए (फ़ॉसिलाइज़्ड) उनके सांस्कृतिक संस्कार हैं। लारेंस के पात्र अपनी परिस्थितियों के लिए सचेतन और सक्रिय हैं। ग्राम्या के दरिद्रनारायण अपनी परिस्थितियों ही की तरह

जड़ और अ... ...

...ढ़, जड़भूत, हठी, वृष बांधव कर्षक,
... ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।'

फिर लारेंस जीवन के मूल्यों के संबंध में प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान (बाएलॉजिकल थॉट) से प्रभावित हुआ है, मैं ऐतिहासिक विचारधारा से; जिसका कारण स्पष्ट ही है कि मैं पराधीन देश का ... । लारेंस जहाँ द्वन्द्व-पीड़न (सेक्स रिप्रसन) से मुक्ति चाहता ... राजनीतिक आर्थिक शोषण से। फिर भी, मुझे विश्वास है कि ... को पढ़ कर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मैंने दरिद्रनारायण के प्रति हृदयहीनता दिखलाई है।

ऐतिहासिक विचारधारा से मैं अधिक प्रभावित, इसलिए भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के, स्रोत ... विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशाहीन शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर काल-हीन विराम करने वाली कल्पना को एक हरी भरी ठोस जनपूर्ण धरती मिल जाती है।

'ताक रहे हो गगन ? मृत्यु नीलिमा गहन गगन ?
निःस्पंद शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो भू को, स्वर्गिक भू को !
मानव पुण्य प्रसू को !'—

इसी लक्ष्य परिवर्तन की ओर इंगित करता है। 'कितनी चिड़िया उड़े अकास, दाना है धरती के पास' वाली कहावत के अनुसार ऐतिहासिक भूमि पर उतर आने से कल्पना के लिए जीवन के सत्य का दाना सुलभ और साकार हो जाता है; और कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, कलाकौशल, समाजशास्त्र, साहित्य, नीति, धर्म, दर्शन के रूप में, एवं भिन्न-भिन्न राजनीतिक आर्थिक व्यवस्थाओं में खंड खंड विभक्त मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ हो जाता है।

'किए प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर,
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन हित'

के अनुसार मध्य युग के अंतर्मुखी वैयक्तिक प्रगति के सिद्धांतों की जन-समूह के लिए व्यावहारिक उपयोगिता के प्रति मेरा विश्वास उठ गया। और

'वस्तुस्थिति पर ही जन गण का भाव विभव अवलंबित'

सत्य के आधार पर मेरा हृदय नवीन युग की सुविधाओं के अनुरूप एक ऐसी सामूहिक सांस्कृतिक चेतना की कल्पना करने लगा जिसमें मनुष्य के हृदय से सामंत युग की क्षुद्र चेतना का बोध डूब जाय! साथ ही अभाव पीड़ित जनसमूह की दृष्टि से, अतृप्त इच्छाओं का सात्विक विकास (सब्लिमेशन) किया जा सकता है इस नैतिक तथ्य की व्यावहारिकता पर भी मुझे संदेह होने लगा।

छायावादी कवियों पर अतृप्त वासना का लांछन मध्यवर्गीय (बूर्ज्वा) मनोविज्ञान (डेप्थ साइकॉलॉजी) के दृष्टिकोण से नहीं लगाया जा सकता। भारत की मध्य युग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वासना और मूक वेदना को जन्म देना रहा है, जिससे बंगाल के वैष्णव कवियों के कीर्तन एवं सूर-मीरा के पद भी प्रभावित हुए हैं। संसार में सभी देशों की संस्कृतियाँ अभी सामंत युग की नैतिकता से पीड़ित हैं। हमारी क्षुधा (संपत्ति) काम (स्त्री) के लिए अभी वही भावना बनी है। पुरानी दुनिया का सांस्कृतिक सगुण अभी निष्क्रिय नहीं हुआ है, और यंत्रयुग उन परिस्थितियों को जन्म नहीं दे सका है जिन पर अवलंबित सामाजिक संघर्षों से उदित नवीन प्रकाश (चेतना) मानव जाति का नवीन सांस्कृतिक हृदय बन सके।

'गत सगुण आज लय होने को : औ' नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, सांस्कृतिक हृदय!'

मेरी कल्पना भविष्य की उस मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित

करने में सुख का अनुभव करने लगी जिसका आधार ऐतिहासिक सत्य है। ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग मैं इतिहास विज्ञान ही के अर्थ में कर रहा हूँ जो दृश्य और द्रष्टा के सामूहिक विकास के नियमों का निरूपण करता है,—'मानव गुण भव रूपनाम होते परिवर्तित युगपत्।' मैं यह भी मानता हूँ कि सामूहिक विकास में वाह्य स्थितियों से प्रेरित होकर मनुष्य की अंतर्चेतना (साइकी), तदनुकूल, पहले ही विकसित हो जाती है। यथा—

'जग जीवन के अंतर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।'

किंतु उसके बाद भी मनुष्य के उपचेतन (सबकांसस) के आश्रित विगत सांस्कृतिक गुणों की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं जिसका परिणाम वाह्य संघर्ष होता है, साथ ही वह नव विकसित अवचेतन (अनकांसस) की सहायता से प्रवृद्ध होकर नवीन सत्य का समन्वय भी करता जाता है।

अध्ययन से मेरी कल्पना जिन निष्कर्षों पर पहुँच सकी है उनका मैंने ऊपर, संक्षेप में, निरूपण करने का प्रयत्न किया है। मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को जिन जिन विचारधाराओं से प्रेरणा मिली है उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है। मेरा विचार है कि, वीणा से लेकर ग्राम्या तक, अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना ही को वाणी दी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे हैं।

मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कृतियों में कला का अभाव रहा है। विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों ही को प्राधान्य मिलना चाहिए। जिस युग में विचार (आइडिया) का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है उस युग में कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में कला का कला के लिए

भी प्रयोग होने लगा था, वह साहित्य में विचार क्रांति का युग नहीं था। किंतु क्या चित्रकला में, क्या साहित्य में, इस युग के कलाकार केवल नवीन टेकनीकों का प्रयोग मात्र कर रहे हैं, जिनका उपयोग भविष्य में अधिक संगतिपूर्ण ढंग से किया जा सकेगा। जागरण युग के कवियों में, कविगुरु कालिदास और रवीन्द्रनाथ की तरह, कला का अत्यंत सुचारु मिश्रण और मार्जन देखने को मिलता है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओं में सामंत युग के समस्त कलावैभव का नवीन रूप से उपयोग कर सके हैं। उससे परिपूर्ण, कलात्मक, संगीतमय, भावप्रवण और दार्शनिक कवि एवं साहित्य स्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई हो सकता है इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नहीं हैं। भारत जैसे संपन्न देश का समस्त सामंतकालीन वाङ्मय, अपने युग के सांस्कृतिक समन्वय का विश्वव्यापी स्वप्न देखने के लिए, बुझने से पहले, जैसे अपनी समस्त शक्ति को व्यय कर, रवि आलोकित प्रदीप की तरह, एक ही बार में प्रज्वलित होकर, अपने अलौकिक सौन्दर्य के प्रकाश से संसार को परि-प्लावित कर गया है। फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि इस विश्लेषण युग के अशांत, संदिग्ध, पराजित एवं असिद्ध कलाकार को विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एवं यथासंभव प्रयोग करना चाहिए। अपनी युग परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य में उपयोगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ। लेकिन सोने को सुगंधित करने की चेष्टा स्वप्नकार को अवश्य करनी चाहिए।

प्रगतिवाद उपयोगितावाद ही का दूसरा नाम है। वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति ही की ओर रहा, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐति-हासिक विज्ञान के आधार पर जनसमाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धांतों का पक्षपाती है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य का सामूहिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवन के सत्य की संपूर्ण अंशों में पूर्ति नहीं करता। उसके व्यक्तिगत सुख दुःख नैराश्य, विछोह आदि की भावनाएँ, उसके स्वभाव और रुचि का वैचित्र्य, उसकी गुण विशेषता, प्रतिभा आदि

का किसी भी सामाजिक जीवन के भीतर अपना पृथक् और विशिष्ट स्थान रहेगा। किन्तु इसमें भी संकेत नहीं कि एक विकसित सामाजिक प्रथा का, परस्पर के सौहार्द और सद्भावना की वृद्धि के कारण, व्यक्ति के निजी सुख दुःखों पर भी अनुकूल ही पड़ सकता है और उसकी प्रतिभा एवं विशिष्टता के विकास के लिए उसमें कहीं अधिक सुविधाएँ मिल सकती हैं। ऐतिहासिक विचारधारा वर्तमान युग की उस स्थिति विशेष का समाधान करती है जो यंत्रयुग के प्रथम चरण पूँजीवाद ने धनी और निर्धन नवर्गों के रूप में पैदा कर दी है, और जिसका उदाहरण सभ्यता के इतिहास में दूसरा नहीं मिलता। मध्ययुगों की 'अन्न वस्त्र पीड़ित, असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित' जनता का इस वाष्प-विद्युद्गामी युग में संपूर्ण जीर्णोद्धार न करना उनके मनुष्यत्व के प्रति कृतघ्नता के सिवा और कुछ नहीं है। युगवाणी का 'कर्म का मन' चेतन और सामूहिक (कांशस एंड कलक्टिव) कर्म का दर्शन है, जो सामूहिक सृजन और निर्माण का, 'भव रूप कर्म' का संदेश देता है।

विशिष्ट व्यक्ति की चेतना सदैव ही ह्रासोन्मुख समाज की रूढ़ि रीति नीतियों से ऊपर होती है, उसके व्यक्तित्व की सार्वजनिक उपयोगिता रहती है। अतएव उसे किसी समाज और युग में मान्यता मिल सकती है। विचार और कर्म में किसका प्रथम स्थान है, हीगल की 'आइडिया' प्रमुख है कि मार्क्स का 'मैटर' ऐसे तर्क और ऊहापोह व्यर्थ जान पड़ते हैं। उन्नीसवीं सदी के शरीर और मनोविज्ञान संबंधी अथवा आदर्शवाद वस्तुवाद संबंधी विवादों की तरह हमारा अध्यात्म और भौतिकवाद संबंधी मतभेद भी एकांगी है। आधुनिक, भौतिकवाद का विषय ऐतिहासिक (सापेक्ष) चेतना है और आध्यात्म का विषय शाश्वत (निरपेक्ष) चेतना। दोनों ही एक दूसरे के अध्ययन और ग्रहण करने में सहायक होते हैं और ज्ञान के सर्वांगीण समन्वय के लिए प्रेरणा देते हैं।

× × ×

आज इस संक्षिप्त वीणा-ग्राम्या चयन के पृष्ठों पर आरपार दृष्टि डालने से मुझे यही जान पड़ता है कि जहाँ मेरी कल्पना ने मेरा साथ दिया है वहाँ मैं भावी मानवता की सत्य को सफलता-पूर्वक वाणी दे सका हूँ और जहाँ में; किसी कारणवश, अपनी कल्पना के केन्द्र से च्युत या विलग हो गया हूँ वहाँ मेरी रचनाओं पर मेरे अध्ययन का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है, और मैं केवल आंशिक सत्य को दे सका हूँ। इस भूमिका में मैंने उस प्रश्नावली के उत्तरों का भी समावेश कर दिया है जो सुहृद्वर श्री वात्स्यायन जी ने, मेरे आलोचक की हैसियत से, ऑल इंडिया रेडियो से ब्राडकास्ट किए जाने के लिए तैयार की थी और जिसके बहुत से प्रश्नोत्तरों का आशय प्रस्तुत संग्रह में सम्मिलित रचनाओं पर प्रकाश डालने के लिए मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मानव समाज का भविष्य मुझे जितना उज्ज्वल और प्रकाशमय जान पड़ता है उसे वर्तमान के अंधकार के भीतर से प्रकट करना उतना ही कठिन भी लगता है। भविष्य के साहित्यिक को इस युग के वाद-विवादों, अर्थशास्त्र और राजनीति के मतांतरों द्वारा, इस संदिग्धकाल के घृणा द्वेष कलह के वातावरण के भीतर से, अपने को वाणी नहीं देनी पड़ेगी। उसके सामने आज के तर्क संघर्ष, ज्ञान विज्ञान, स्वप्न कल्पना सब घुलमिल कर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना के रूप में वास्तविक एवं साकार हो जाएँगे। वर्तमान युद्ध और रक्तपात के उस पार वह एक नवीन, प्रबुद्ध, विकसित और हँसती बोलती हुई, विश्व निर्माण में निरत, मानवता से अपनी सृजन सामग्री ग्रहण कर सकेगा। इस परिवर्तन काल के विक्षुब्ध लेखक की अत्यंत सीमाएँ और अपार कठिनाइयाँ हैं। इन पृष्ठों में अपने संबंध में लिखने में यदि कहीं, ज्ञात अज्ञात रूप से, आत्मश्लाघा का भाव आ गया हो तो उसके लिए मैं हार्दिक खेद प्रकट करता हूँ, मैंने कहीं कहीं अपने को दुहराया है और शायद विवादपूर्ण सिद्धांतों का विस्तार-पूर्वक

समाधान भी नहीं किया है। अंत में मैं ग्राम्या की अंतिम 'विनय' से दो पंक्तिएँ उद्धृत कर लेखनी को विराम देता हूँ,—

'हो धरणि जनों की : जगत स्वर्ग,—जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु, भव मानवता का वर !'

ईश्वरीभवन, अल्मोड़ा
१५ दिसंबर १६४१

श्रीसुमित्रानंदन पंत

आधुनिक कवि

२

मोह

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को !

तज कर तरल तरङ्गों को,
इन्द्रधनुष के रङ्गों को,
तेरे भ्रू भङ्गों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग सा मन ?
भूल अभी से इस जग को !

कोयल का वह कोमल बोल,
मधुकर की वीणा अनमोल,
कह, तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूँ, सजनि श्रवन ?
भूल अभी से इस जग को !

ऊषा-सस्मित किसलय-दल,
सुधा-रश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन ?
भूल अभी से इस जग को !

(१९१८)

बाल-प्रश्न

"मा ! अल्मोड़े में आए थे
जब राजर्षि विवेकानन्द,
तब मग में मखमल बिछवाया,
दीपावलि की विपुल अमन्द;
विना पाँवड़े पथ में क्या वे
जननि ! नहीं चल सकते हैं ?
दीपावलि क्यों की ? क्या वे मा !
मन्द दृष्टि कुछ रखते हैं ?"

"कृष्णे ! स्वामी जी तो दुर्गम
मग में चलते हैं निर्भय,
दिव्य दृष्टि हैं, कितने ही पथ
पार कर चुके कण्टकमय;
वह मखमल तो भक्तिभाव थे
फैले जनता के मन के,
स्वामी जी तो प्रभावान हैं
वे प्रदीप थे पूजन के।"

(१६१८)

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना, रङ्गिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ है बाल विहङ्गिनी !
पाया तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पङ्खों के सुख में छिपकर,
झूम रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी-से जुगनू नाना;

शशि किरणों से उतर उतर कर
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना;

स्नेह हीन तारों के दीपक,
श्वास-शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मण्डप ताना;

कूक उठी सहसा तरु-वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुमको अन्तर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अन्ध-गर्भ से
छाया-तन बहु छाया-हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना-माना;

छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्री हीन,
कमल क्रोड़ में बन्दी था अलि,
कोक शोक से दीवाना;

मूर्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग,
जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना जाना;

तूने ही पहिले बहु दर्शिनि!
गाया जाग्रति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का, नभचारिणि!
गूँथ दिया ताना बाना!

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति पुञ्ज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम-रूप नाना;

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल,
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का सा दाना;

खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि,
जगी सुरभि, डोले मधु बाल,
स्पन्दन, कम्पन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना;

प्रथम रश्मि का आना, रङ्गिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ, हे बाल विहङ्गिनी !
पाया यह स्वर्गिक गाना ?

(१६१६)

नीरव तार

नीरव तार हृदय में
गूँज रहे हैं मंजुल लय में,
अनिल-पुलक से अरुणोदय में !

चरण कमल में अर्पण कर मन,
रज रंजित कर तन,
मधु रस मज्जित कर मम जीवन
चरणामृत आशय में !

नित्य कर्म पथ पर तत्पर धर
निर्मल कर अन्तर,
पर-सेवा का मृदु पराग भर
मेरे मधु-संचय में !

(१६१६)

स्नेह

दीप के बचे विकास !

अनिल सा लोक लोक में,
हर्ष में और शोक में,
कहाँ नहीं है स्नेह ? साँस सा सबके उर में !

यही तो है बचपन का हास
खिले यौवन का मधुप विलास,
प्रौढ़ता का वह बुद्धि विकास,
जरा का अन्तर्नयन प्रकाश;
जन्म दिन का है यही हुलास,
मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास !

है यह वैदिक वाद; –
विश्व का सुख-दुखमय उन्माद !
एकतामय है इसका नाद :—
गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव भाषण;
श्रवण तक आ जाता है मन,
स्वयं मन करता बात श्रवण !

अश्रुओं में रहता है हास,
हास में अश्रुकणों का भास;
श्वास में छिपा हुआ उच्छ्वास !
और उच्छ्वासों ही में श्वास !

बँधे हैं जीवन-तार;
सब में छिपी हुई है यह झङ्कार !
हो जाता संसार
नहीं तो दारुण हाहाकार !

मुरली के-से सुरसीले
हैं इसके छिद्र सुरीले;
अगणित होने पर भी तो
तारों-से हैं चमकीले !

अचल हो उठते हैं चञ्चल;
चपल बन जाते हैं अविचल;
पिघल पड़ते हैं पाहन दल;
कुलिश भी हो जाता कोमल !

चढ़ाता भी है तो गुण से,
डोर कर में है, मन आकाश;
पटकता भी है तो गुण से,
खींचने को चकई सा पास !

(१६१६)



'उच्छ्वास' की बालिका

हृदय के सुरभित साँस !

जरा है आदरणीय;

सुखद यौवन ! विलास-उपवन रमणीय ;
शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु, सरल, कमनीय ;

—बालिका ही थी वह भी !

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला तन ।
सुरीले ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान
विकच बचपन को, मन को खींच,
उचित बन जाता था उपमान ।
छपी-सी पी-सी मृदु मुसकान
छिपी सी, खिंची सखी-सी साथ
उसी की उपमा-सी बन, मान
गिरा का धरती थी, धर हाथ ।
रँगीले, गीले फूलों-से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरङ्ग-सी नित ।
—इसी में था असीम अवसित !

उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय रुजाया,
नित मधुर मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया।
कह उसे कल्पनाओं की
कल कल्पलता, अपनाया,
बहु नवल भावनाओं का
उसमें पराग था पाया।

मैं मन्द हास-सा उसके
मृदु अधरों पर मँडराया;
औ' उसकी सुखद सुरभि से
प्रतिदिन समीप खिंच आया।

(१६२१)



'आँसू' की बालिका

एक वीणा की मृदु झङ्कार !
कहाँ है सुन्दरता का पार !
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि !
दिखाऊँ मैं साकार !

तुम्हारे छूने में था प्राण,
सङ्ग में पावन गङ्गा स्नान ;
तुम्हारी वाणी में, कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान !

अपरिचित चितवन में था प्रात,
सुधामय साँसों में उपचार,
तुम्हारी छाया में आधार,
सुखद चेष्टाओं में आभार !

करुण
हास में
तुम्हारी
प्रेम ने

कपोलों में उर के मृदु भाव,
श्रवण नयनों में प्रिय बर्ताव;
सरल संकेतों में सङ्कोच,
मृदुल अधरों में मधुर दुराव !

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के साँस !

बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त;
एक स्वर में समस्त संगीत;
एक कलिका में अखिल वसन्त,
धरा में थीं तुम स्वर्ग पुनीत!

विधुर उर के मृदु भावों से
तुम्हारा कर नित नव शृंगार,
पूजता हूँ मैं तुम्हें कुमारि!
मूँद दुहरे दृग द्वार!
अचल पलकों में मूर्ति सँवार
पान करता हूँ रूप अपार;
पिघल पड़ते हैं प्राण
उबल चलती है दृग जल धार!

बालकों-सा ही तो मैं हाय!
याद कर रोता हूँ अनजान;
न जाने होकर भी असहाय,
पुनः किस से करता हूँ मान!

× × ×

मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को,
थाम ले अब, हृदय! इस आह्वान को!
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को!
तेरे उज्ज्वल आँसू सुमनों में सदा
वास करेंगे, भग्न हृदय! उनकी व्यथा
अनिल पोंछेगी; करुण उनकी कथा
मधुप बालिकाएँ गाएँगी सर्वदा!

(१९२२)

पर्वत प्रदेश में पावस

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश;
पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश।

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार,

—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल!

गिरि का गौरव गाकर झर् झर्
मद से नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों-से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर।

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
उच्चाकाङ्क्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष; अटल, कुछ चिन्तापर!

—उड़ गया, अचानक, लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर!
रव शेष रह गए हैं निर्झर!
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!

धँस गए धरा में सभय शाल!
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल!
—यों जलद यान में विचर, विचर
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल!

(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर!)

इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी;
सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।

(१६२१)



'आँसू' से

विरह है अथवा यह वरदान !

कल्पना में है कसकती-वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है ;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं ;
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है !

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान ;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान !

हाय किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार !
किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणों का हार

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन ,
मानस-सा उमड़ा अपार मन ;
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले ,
मेघों-से मेरे भरे नयन !

कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों-से हाय !
अरुण कलियों-से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय !

पन्

इन्द्रधनु सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे सी धूमिल, घोर,
दीखती भावी चारों ओर !

तड़ित सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान,
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर;
जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान !

धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल,
आज सोने का सन्ध्याकाल
जल रहा जतुगृह सा विकराल;
पटक रवि को बलि सा पाताल
एक ही वामन-पग में—
लपकता है तमिस्र तत्काल,
—धुएँ का विश्व विशाल !

चिनगियों-से तारों को डाल
आग का सा अँगार शशि लाल
लहकता है,—फैला मणि-जाल,
जगत को डसता है तम-व्याल !

पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि !
सरल शुक सी सुखकर सुर में
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती हैं उर में;

कोकिला

आगन-से मेरे पुलकित प्राण
सहस्रों सरस स्वरों में कूक,
तुम्हारा करते हैं आह्वान,
गिरा रहती है श्रुति सी मूक!

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को;

नवोढ़ा बाल-लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिंग रुक कर
सरकती है सत्वर;

अकेली आकुलता सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!

देखता हूँ, जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला;

तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अन्तर्धान;
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान!

× × ×

बादलों के छायामय मेल
घूमते हैं आँखों में, फैल!
अवनि औ' अम्बर के वे खेल
शैल में जलद, जलद में शैल!
शिखर पर विचर मरुत-रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमनों-से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर!

द्विरद-दन्तों-से उठ सुन्दर,
सुखद कर-सीकर-से बढ़ कर,
भूति-से शोभित बिखर बिखर,
फैल फिर कटि के-से परिकर,
बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर!

इन्द्रधनु की सुन कर टङ्कार
उचक चपला के चञ्चल बाल,
दौड़ते थे गिरि के उस पार
देख उड़ते-विशिखों की धार;
मरुत जब उनको द्रुत चुमकार,
रोक देता था मेघासार!

अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,
विहंगम सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर!

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों का भारी झर् झर्;
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर;
बिन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर;
हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर!

खैंच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार;
जलद-पट से दिखला मुख-चन्द्र,
पलक पल पल चपला के मार;
भग्न उर पर भूधर सा हाय!
सुमुखि, धर देती है साकार!

(१६२२)

इन्दु पर, उस इन्दु-मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे;—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।
बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में;
अचल, रेखाङ्कित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।
लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब-से
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से।
इन गढ़ों में—रूप के आवर्त-से—
घूम-फिर कर, नाव-से किसके नयन
हैं नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण सौन्दर्य के ?

जब प्रणय का प्रथम परिचय मूकता
दे चुकी थी हृदय को, तब यत्न से

बैठ कर मैंने निकट ही, शान्त हो,
विनत वाणी में प्रिया से यों कहा—
'सलिल-शोभे ! जो पतित आहत भ्रमर
सदय हो तुमने लगाया हृदय से,
एक तरल तरङ्ग से उसको बचा
दूसरी में क्यों डुबाती हो पुनः ?
'प्रेम कण्टक से अचानक विद्ध हो
जो सुमन तरु से बिलग है हो चुका,
निज दया से द्रवित उर में स्थान दे
क्या न सरस विकास दोगी तुम उसे ?
'मलिन उर छूकर तिमिर का अरुण-कर
कनक आभा में खिलाते हैं कमल,
प्रिय बिना तम-शेष मेरे हृदय की
प्रणय कलिका की तुम्हीं प्रिय कान्ति हो।

'यह विलम्ब ! कठोर हृदये ! मग्न को
बालुका भी क्या बचाती है नहीं ?
निठुर का मुझको भरोसा है बड़ा,
गिरि शिलाएँ ही अभय आधार हैं।
'म्लान तम में ही कलाधर की कला
कौमुदी बन कीर्ति पाती है धवल,
दीनता के ही विकम्पित पात्र में
दान बढ़ कर छलकता है प्रीति से।

प्रिय ! निराश्रित की कठिन बाँहें नहीं
शिथिल पड़ती हैं प्रलोभन भार से,
अल्पता की सङ्कुचित आँखें सदा
उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से।

'दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज
सरल उपकृति का सजल मानस प्रिये!
क्षीण करुणालोक का भी लोक को
है बृहत् प्रतिबिम्ब दिखलाता सदा।'

'शरद के निर्मल तिमिर की ओट में
नव मिलन के पलक दल सा झूमता
कौन मादक कर मुझे है छू रहा
प्रिय! तुम्हारी मूकता की आड़ से?
'यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
जो अपाङ्गों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा'?

इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि में,
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में।
निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी।

(१६२०)



बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर;
मेघदूत की सजल कल्पना,
चातक के चिर जीवनधर;

मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर;
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जलधर।

जलाशयों में कमल दलों सा
हमें खिलाता नित दिनकर,
पर बालक सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर;

लघु लहरों के चल पलनों में
हमें झुलाता जब सागर,
वही चील सा झपट, बाँह गह,
हमको ले जाता ऊपर।

भूमि गर्भ में छिप विहंग-से
फैला कोमल, रोमिल पङ्ख,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते साँस, छुड़ा जड़ पङ्क;

विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अङ्क,
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते,
छा अनन्त उर में निःशङ्क।

कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते,
मत्त मतङ्गज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते;

कभी कीश-से अनिल डाल में
नीरवता से मुँह भरते,
बृहद् गृद्ध-से विहग छदों को
बिखराते नभ में तरते।

कभी अचानक, भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क कड़क, जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार;

फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पङ्ख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।

अनिल विलोड़ित गगन सिन्धु में
प्रलय बाढ़-से चारों ओर
उमड़ उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर;

बात बात में, तूल-तोम सा
व्योम विटप से झटक, झकोर,
हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत
दल-बल युत घुस वातुल-चोर।

बुद्बुद्-द्युति तारक-दल-तरलित
तम के यमुना-जल में श्याम
हम विशाल जम्बाल-जाल-से
बहते हैं अमूल, अविराम;

दमयन्ती सी कुमुद कला के
रजत-करों में फिर अभिराम
स्वर्ण-हंस-से हम मृदु ध्वनि कर,
कहते प्रिय-सन्देश ललाम।

दुहरा विद्युद्दाम चढ़ा द्रुत,
इन्द्रधनुष की कर टङ्कार;
विकट पटह-से निर्घोषित हो,
बरसा विशिखों सा आसार;

चूर्ण चूर्ण कर वज्रायुध से
भूधर को, अति भीमाकार
मदोन्मत्त वासव-सेना-से
करते हम नित वायु विहार।

व्योम विपिन में जब वसन्त सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते हम तब अनिल-स्रोत में
गिर तमाल-तम के-से पात;

उदयाचल से बाल हंस फिर
उड़ता अम्बर में अवदात,
फैल स्वर्ण-पङ्खों-से हम भी,
करते द्रुत मारुत से बात।

सन्ध्या का मादक पराग पी,
झूम कलिन्दों-से अभिराम,
नभ के नील कमल में निर्भय
करते हम विमुग्ध विश्राम;

फिर बाड़व-से सान्ध्य सिन्धु में
सुलग, सोख उसको अविराम
बिखरा देते तारावलि-से
नभ में उसके रत्न निकाम।

धीरे धीरे संशय-से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि भोर;

इन्द्रचाप सी व्योम भृकुटि पर
लटक मौन चिन्ता-से घोर,
घोष भरे विप्लव-भय-से हम
छा जाते द्रुत चारों ओर।

पर्वत से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत बन, पल में, साकार—
काल-चक्र-से चढ़ते, गिरते,
पल में जलधर, फिर जल-धार;

कभी हवा में महल बना कर,
सेतु बाँध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव-भूति ही-से निस्सार।

नग्न गगन की शाखाओं में
फैला मकड़ी का-सा जाल
अम्बर के उड़ते पतङ्ग को
उलझा लेते हम तत्काल;

फिर अनन्त-उर की करुणा-से
त्वरित द्रवित होकर, उत्ताल—
आतप में मूर्छित कलियों को
जाग्रत करते हिमजल डाल।

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल;

नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल-भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल।

व्योम-वेलि, ताराओं की गति,
चलते-अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तन्द्रा,
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान;

पवन-धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल-अनल के विरल वितान,
व्योम-पलक, जल-खग, बहते-थल,
अम्बुधि की कल्पना महान।

× × ×

धूम धुँआरे, काजर कारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन राज के वीर बहादर,
पावस के उड़ते फणिधर;

चमक-झमक मय मन्त्र वशीकर,
छहर-घहर मय विष-सीकर,
स्वर्ग-सेतु-से इन्द्रधनुषधर,
कामरूप घनश्याम अमर।

(१६२२)

मुसकान

कहेंगे क्या मुझसे सब लोग
कभी आता है इसका ध्यान।
रोकने पर भी तो सखि हाय।
नहीं रुकती है यह मुसकान!

विपिन में पावस के-से दीप
सुकोमल, सहसा, सौ सौ भाव
सजग हो उठते नित उर बीच,
नहीं रख सकती तनिक दुराव।
कल्पना के ये शिशु नादान
हँसा देते हैं मुझे निदान!

तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव नव भाव,
कभी बन हिमजल की लघु बूँद
बढ़ाते मुझसे चिर अपनाव;
गुदगुदाते ये तन, मन, प्राण,
नहीं रुकती तब यह मुसकान!

कभी उड़ते-पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर, मुझको उस पार;
नहीं रखती मैं जग का ज्ञान,
और हँस पड़ती हूँ अनजान!
रोकने पर भी तो सखि! हाय,
नहीं रुकती तब यह मुसकान!

(१६२२)

मौन निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;

न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन !

सघन मेघों का भीमाकाश-
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस धार;

न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इङ्गित करता तब मौन !

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;

न जाने सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन !

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;

उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन !

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग कुल की कल कण्ठ हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;

न जाने अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन !

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार;

न जाने खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुञ्जार;

न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में श्रमित अपार,
जुड़ाती जब मैं आकुल प्राण;

न जाने मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया-जग में मौन!

न जाने कौन, अये छविमान!
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;

अहे सुख दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!

(१६२२)



अनित्य जग

(१)

आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस!

वही मधुऋतु की गुञ्जित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिञ्चनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार!
आज पावस नद के उद्‌गार
काल के बनते चिह्न कराल;
प्रात का सोने का संसार
जला देती सन्ध्या की ज्वाल।
अखिल यौवन के रंग-उभार
हड्डियों के हिलते कङ्काल;
कचों के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार;
गूँजते हैं सबके दिन चार,
सभी फिर हाहाकार!

(२)

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अन्धकार, अज्ञात!

शिशिर सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल!
प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल!

मृदुल होठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निःश्वास समीर;
सरल भौंहों का शरदाकाश
घेर लेते घन, घिर गम्भीर!

शून्य साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर-मधुर संयोग;
मिलन के पल केवल दो-चार
विरह के कल्प अपार!

अरे, वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय;
उठे-रोओं के आलिङ्गन
कसक उठते काँटों-से हाय!

(३)

किसी को सोने के सुख साज
मिल गये यदि ऋण भी कुछ आज;
चुका लेता दुख कल ही ब्याज
काल को नहीं किसी की लाज!

विपुल मणि रत्नों का छवि जाल,
इन्द्रधनु की सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत्-ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल;

मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार!

खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण, क्षण;

अभी उत्सव औ' हास हुलास,
अभी अवसाद, अश्रु, उच्छ्वास!
अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश;

सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उडुगन!

(१९२४)



निष्ठुर परिवर्तन

(१

अहे निष्ठुर परिवर्तन !

तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन !

अहे वासुकि सहस्र-फन !

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्ष-स्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयङ्कर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कञ्चुक कल्पान्तर !

अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मण्डल !

(२)

अहे दुर्जेय विश्वजित् !

नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इन्द्रासन तल माथ;
घूमते शत शत भाग्य अनाथ,
सतत रथ के चक्रों के साथ !

तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित;
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर सञ्चित!
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात, उत्पात, अमङ्गल,
वह्नि, बाढ़, भूकम्प, तुम्हारे विपुल सैन्य दल;
अहे निरङ्कुश! पदाघात से जिनके विह्वल

हिल हिल उठता है टलमल
पद दलित धरातल!

(३)

जगत का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय सूचन;
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण!

विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल काल कृमि-से घुले पल-पल;
तुम्हीं स्वेद सिञ्चित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोपल बन, वाँछित कृषि फल!
अये सतत ध्वनि स्पन्दित जगती का दिङ्मण्डल

नैश गगन सा सकल
तुम्हारा ही समाधि स्थल!

(४)

काल का अकरुण भृकुटि विलास
तुम्हारा ही परिहास;
विश्व का अश्रु पूर्ण इतिहास!
तुम्हारा ही इतिहास!

एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर;
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध, शृङ्ग वर,
नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य—भूति के मेघाडम्बर!
अये, एक रोमाञ्च तुम्हारा दिग्भू कम्पन,
गिर गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों-से उडुगन;
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शतशत फन,
मुग्ध भुजङ्गम-सा, इङ्गित पर करता नर्तन!
दिक् पिञ्जर में बद्ध, गजाधिप सा विनतानन,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन!

(५)

जगत की शत कातर चीत्कार
बेधतीं बधिर! तुम्हारे कान!
अश्रु स्रोतों की अगणित धार
सींचतीं उर पाषाण!

अरे क्षण क्षण सौ सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश!
चतुर्दिक् घहर घहर आक्रान्ति
ग्रस्त करती सुख शान्ति!

हाय री दुर्बल भ्रान्ति !—
कहाँ नश्वर जगती में शान्ति ?
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति !
जगत अविरत जीवन संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम !

एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजन वन !

—यही तो है असार संसार,
सृजन, सिञ्चन, संहार !
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार;
रत्न दीपावलि, मन्त्रोच्चार;
उलूकों के कल भग्न विहार,
झिल्लियों की झनकार !
दिवस निशि का यह विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल !

(१६२४)

नित्य जग

(१)

नित्य का यह अनित्य नर्तन
विवर्तन जग, जग व्यावर्तन,
अचिर में चिर का अन्वेषन
विश्व का तत्व-पूर्ण दर्शन !

अतल से एक अकूल उमंग,
सृष्टि की उठती तरल तरङ्ग,
उमड़ शत शत बुद्बुद् संसार
बूड़ जाते निस्सार !

बना सैकत के तट अतिवात
गिरा देती अज्ञात !

(२)

एक छवि के असंख्य उडगन,
एक ही सत्र में स्पन्दन;
एक छवि के विभात में लीन,
एक विधि के आधीन !

एक ही लोल लहर के छोर
उभय सुख दुख, निशि भोर,
इन्हीं से पूर्ण त्रिगुण संसार,
सृजन ही है, संहार !

मूँदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव जीवन की प्रात,
शिशिर की सर्व प्रलयङ्कर वात
बीज बोती अज्ञात !

ग्लान कुसुमों की मृदु मुसकान
फलों में फलती फिर अम्लान,
महत् है, अरे, आत्म बलिदान,
जगत केवल आदान प्रदान !

(३)

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास;
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास;

वही उर उर में प्रेमोच्छ्वास;
काव्य में रस, कुसुमों में वास;
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास !

विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्म मधुर झङ्कार !

(४)

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार;

स्वरों में ध्वनित मधुर सुकुमार
सत्य ही प्रेमोद्गार,
दिव्य सौन्दर्य, स्नेह साकार,
भावनामय संसार !

(५)

स्वीय कर्मों ही के अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार;
कहीं राखी बनता सुकुमार,
कहीं बेड़ी का भार !

(६)

कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झङ्कार
स्फूर्ति करते सञ्चार;
चूम सुख दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार !

पिघल होंठों का हिलता हास
दृगों को देता जीवन दान,
वेदना ही में तप कर प्राण
दमक दिखलाते स्वर्ण हुलास !

तरसते हैं हम आठों याम,
इसी से सुख अति सरस, प्रकाम;
झेलते निशि दिन का संग्राम,
इसी से जय अभिराम;

अलभ है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल।

(७)

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार;
दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार।

(८)

आज का दुख कल का आह्लाद,
और कल का सुख आज विषाद;
समस्या स्वप्न-गूढ़ संसार,
पूर्ति जिसकी उस पार;
जगत जीवन का अर्थ विकास,
मृत्यु, गति क्रम का ह्रास।

(९)

हमारे काम न अपने काम,
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप;
गँवाने आए हैं अज्ञात
गँवा कर पाते स्वीय स्वरूप !

(१९२४)

सान्ध्या वंदना

जीवन का श्रम ताप हरो, हे !
सुख सुखमा के मधुर स्वर्ण से
सूने जग गृह द्वार भरो, हे !

लौटे गृह सब श्रान्त चराचर
नीरव, तरु अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर पल्लव से
विश्व नीड़ प्रच्छाय करो, हे !

उदित शुक्र अब, अस्त भानु बल,
स्तब्ध पवन, नत नयन पद्म दल,
तन्द्रिल पलकों में, निशि के शशि !
सुखद स्वप्न बन कर विचरो, हे !

(१६३१)



५ लहरों का गीत

अपने ही सुख से चिर चञ्चल
हम खिल खिल पड़ती हैं प्रतिपल,
जीवन के फेनिल मोती को
ले ले चल करतल में टलमल!
छू छू मृदु मलयानिल रह रह
करता प्राणों को पुलकाकुल;
जीवन की लतिका में लहलह
विकसा इच्छा के नव नव दल!
सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि
गृह-पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिल-मिल
खस खस पड़ता उर से अञ्चल!
चिर जन्म-मरण को हँस हँस कर
हम आलिङ्गन करतीं पल पल,
फिर फिर असीम से उठ उठ कर
फिर फिर उसमें हो हो ओझल!

(१६३१)

५ घंटा

नभ की उस नीली चुप्पी पर
घंटा है एक टँगा सुन्दर,
जो घड़ी घड़ी मन के भीतर
कुछ कहता रहता बज बज कर।
परियों के बच्चों-से प्रियतर,
फैला कोमल ध्वनियों के पर,
कानों के भीतर उतर उतर
घोंसला बनाते उसके स्वर।
भरते वे मन में मधुर रोर
'जागो रे जागो, काम चोर!
डूबे प्रकाश में दिशा छोर
अब हुआ भोर, अब हुआ भोर!'
'आई सोने की नई प्रात
कुछ नया काम हो, नई बात,
तुम रहो स्वच्छ मन, स्वच्छ गात,
निद्रा छोड़ो, रे, गई रात!

(१६३१)

वायु के प्रति

प्राण! तुम लघु लघु गात!
नील नभ के निकुंज में लीन,
नित्य नीरव, निःसंग नवीन,
निखिल छवि की छवि! तुम छवि हीन
अप्सरी-सी अज्ञात!

अधर मर्मरयुत, पुलकित अंग
चूमतीं चलपद चपल तरंग,
चटकतीं कलियाँ पा भ्रू-भंग
थिरकते तृण; तरु-पात!

हरित-द्युति चंचल अंचल-छोर
सजल छवि, नील कंचु, तन गौर,
चूर्ण कच, साँस सुगंध झकोर,
परों में सायं-प्रात!

विश्व हृत् शतदल निभृत निवास,
अहर्निशि साँस-साँस में लास,
अखिल जग-जीवन हास-विलास,
अदृश्य, अस्पृश्य, अजात!

(१९३१)

सुख-दुख

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
मैं नहीं चाहता चिर-दुख;
सुख दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीड़ित है अति-दुख से
जग पीड़ित रे अति-सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से।

अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न;
दुख-सुख की निशा-दिवा में
सोता-जगता जग-जीवन।

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिङ्गन विरह-मिलन का;
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का!

(१६३२)

तप

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल
तप रे विधुर विधुर मन !
अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन !
तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन
गन्धहीन तू गन्धयुक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !
मूर्तिवान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !

(१६३२)

पश्चिम-नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमन्द नक्षत्र एक।
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक।
किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिए हुए? किसके समीप?
मुक्तालोकित ज्यों रजत-सीप!
क्या उसकी आत्मा का चिर-धन, स्थिर अपलक-नयनों का चिन्तन?
क्या खोज रहा वह अपनापन?
दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन!

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन, विवेक!
चिर आकांक्षा से ही थर्-थर्, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर!
अविरत-इच्छा ही में नर्तन, करते अबाध रवि, शशि, उडगण,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन!
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल! क्या नीरव, नीरव नयन सजल!
एकाकी जीवन निसंग रे व्यर्थ, विफल!
एकाकीपन का अन्धकार, दुःसह है इसका मूक-भार,
सके विषाद का रे न पार!

× × ×
चिर अविचल पर तारक अमन्द!
जानता नहीं वह छन्द-बन्ध!
वह रे अनन्त का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन।

निष्कम्प-शिखा-सा वह निरुपम, भेदता जगत-जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !

... ...

गुञ्जित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अन्धकार,
हलका एकाकी व्यथा-भार !
जगमग-जगमग नभ का आँगन लद गया कुन्द कलियों से घन,
एक तारा वह आत्म और यह जग-दर्शन !

(जनवरी १९३२)



नौका विहार

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनन्त, नीरव भू-तल !
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल,
लेटी हैं श्रान्त, क्लान्त, निश्चल !
तापस-बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु-करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर;
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर।

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की सस्मित-सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर
लो, पालें चढ़ीं, उठा लंगर।
मृदु मन्द मन्द, मन्थर, मन्थर लघु तरणि, हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर।
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत-पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।
कालाकाँकर का राज-भवन सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव-स्वप्न सघन।

नौका से उठती जल-हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर।

विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर जल का अन्तस्तल !
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किए अविरल
फिरती लहरें लुक-छिप पल पल ।
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल ।
लहरों के घूँघट से झुक झुक दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता, मुग्धा सा रुक-रुक ।

अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार ।
दो बाँहों-से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर ।
अति दूर क्षितिज पर विटप माल लगती भ्रू-रेखा सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल;
मा के उर पर शिशु-सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;
वह कौन विहग ? क्या विकल कोक उड़ता, हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक ।

पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार ।
डाँड़ों के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार ।
चाँदी के साँपों सी रलमल नाँचतीं रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिंच तरल-सरल ।

लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ सौ शशि, सौ सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल।
अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले-ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सहोत्साह।

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार।
इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत-हास
शाश्वत लघु-लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व-दान।

(१९३२)



चाँदनी

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद-हासिनि,
मृदु करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि !

वह स्वप्न-जड़ित नत चितवन
छू लेती अग जग का मन,
श्यामल, कोमल, चल चितवन
जो लहराती जग-जीवन ।

वह फूली बेला की वन
जिसमें न नाल, दल, कुड्मल,
केवल विकास चिर निर्मल
जिसमें डूबे दश दिशि-दल ।

वह सोई सरित-पुलिन पर
साँसों में स्तब्ध समीरण,
केवल लघु लघु लहरों पर
मिलता मृदु-मृदु उर-स्पन्दन ।

अपनी छाया में छिप कर
वह खड़ी शिखर पर सुन्दर,
है नाच रहीं शत-शत छवि
सागर की लहर-लहर पर ।

दिन की आभा दुलहिन बन
आई निशि-निभृत शयन पर,
वह छवि की छुईमुई-सी
मृदु मधुर लाज से मर-मर ।

जग के अस्फुट स्वप्नों का
वह हार गूँथती प्रतिपल
चिर सजल-सजल, करुणा से
उसके आँसू का अंचल।

वह मृदु मुकुलों के मुख में
भरती मोती के चुम्बन,
लहरों के चल करतल में
चाँदी के चंचल उडुगण।

वह लघु परिमल के घन सी
जो लीन अनिल में अविकल,
सुख के उमड़े सागर सी
जिसमें निमग्न उर-तट-स्थल।

वह स्वप्निल शयन-मुकुल सी
हैं मुँदे दिवस के द्युति-दल,
उर में सोया जग का अलि,
नीरव जीवन-गुंजन कल।

वह नभ के स्नेह-श्रवण में
दिशि की गोपन-सम्भाषण,
नयनों के मौन-मिलन में
प्राणों की मधुर समर्पण।

वह एक बूँद संसृति की
नभ के विशाल करतल पर,
डूबे असीम-सुखमा में
सब ओर छोर के अन्तर।

झंकार विश्व-जीवन की
हौले हौले होती लय
वह शेष, भले ही अविदित,
वह शब्द मुक्त शुचि आशय।

वह एक अनन्त प्रतीक्षा
नीरव, अनिमेष विलोचन,
अस्पृश्य अदृश्य विभा वह,
जीवन की साश्रु-नयन क्षण।

वह शशि-किरणों से उतरी
चुपके मेरे आँगन पर,
उर की आभा में खोई,
अपनी ही छवि से सुन्दर।

वह खड़ी दृगों के सन्मुख
सब रूप, रेख, रँग ओझल,
अनुभूति-मात्र-सी उर में
आभास शान्त, शुचि, उज्ज्वल!

वह है, वह नहीं, अनिर्वच,
जग उसमें, वह जग में लय,
साकार-चेतना सी वह,
जिसमें अचेत जीवाशय!

(फ़रवरी '३२)

पतझर

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क-शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीत-राग, जड़, पुराचीन ! !

निष्प्राण विगत-युग ! मृत विहङ्ग !
जग-नीड़ शब्द औ' श्वास-हीन,
च्युत, अस्त-व्यस्त पङ्खों-से तुम
झर झर अनन्त में हो विलीन !

कङ्काल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली !
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली !

मञ्जरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय स्वर मदिरा से
भर दे फिर नव युग की प्याली !

(फ़रवरी '३४)

वसन्त

चंचल पग दीप-शिखा के धर
गृह, मग, वन में आया वसन्त !
सुलगा फाल्गुन का सूनापन
सौन्दर्य-शिखाओं में अनन्त !

सौरभ की शीतल ज्वाल
फैला उर उर में मधुर
आया बसन्त, भर पृथ्वी
स्वर्गिक सुन्दरता का प्रव

पल्लव पल्लव में नवल रुधिर
पत्रों में मांसल रंग खिला,
आया नीली-पीली लौ से
पुष्पों के चित्रित दीप जला !
अधरों की लाली सें चुपके
कोमल गुलाब के गाल लजा,
आया, पङ्खड़ियों को काले—
पीले धब्बों से सहज सजा !

कलि के पलकों में मिलन-स
अलि के अन्तर में प्रणय
लेकर आया प्रेमी वसन्
आकुल जड़-चेतन स्नेह-प्र

त विहङ्ग !
श्वास-हीन,
ङ्गों-से तुम
। विलीन !

यौवन के
, मतवाली
र मदिरा से
की प्याली।

काली कोकिल ! सुलगा उर में
स्वरमयी वेदना का अँगार,
आया वसन्त, घोषित दिगन्त
करती, भर पावक की पुकार !

आः, प्रिये ! निखिल ये रूप-रंग
रिल-मिल अन्तर में स्वर अनन्त
रचते सजीव जो प्रणय-मूर्ति
उसकी छाया, आया वसन्त !

(एप्रिल '३५)

सृष्टि

मिट्टी का गहरा अन्धकार,
डूबा है उसमें एक बीज,—
वह खो न गया, मिट्टी न बना,
कोदों, सरसों से क्षुद्र चीज़!

उस छोटे उर में छिपे हुए
हैं डाल-पात औ' स्कन्ध-मूल,
गहरी हरीतिमा की संसृति,
बहु रूप-रंग, फल और फूल!

वह है मुट्ठी में बन्द किए
वट के पादप का महाकार,
संसार एक! आश्चर्य एक!
वह एक बूँद, सागर अपार!

बन्दी उसमें जीवन-अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बन्धन,—
पाने को है निज सत्व,—मुक्ति!
जड़ निद्रा से जग कर, चेतन!

आः भेद न सका सृजन रहस्य
कोई भी! वह जो क्षुद्र पोत,
उसमें अनन्त का है निवास,
वह जग जीवन से ओत प्रोत!

मिट्टी का गहरा अन्धकार
सोया है उसमें एक बीज,—
उसका प्रकाश उसके भीतर,
वह अमर पुत्र ! वह तुच्छ चीज़ !

(मई '३५)

कलरव

बाँसों का झुरमुट—
सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी—वी—टी—टुट्—टुट् !

वे ढाल ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रहीं मधुर सपने
श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर,
गा गीत स्नेह-वेदना सने !

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
भारी है जीवन ! भारी पग ! !
आः,गा-गा शत-शत सहृदय खग

सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग
औ' गन्ध-पवन झल मन्द व्यजन
भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली हैं जिनकी रग-रग !

—यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला,
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा,—सृष्टि के साथ पला !

× × ×

सरस

गा सके खगों सा मेरा कवि
विश्री जग की सन्ध्या की छवि!
गा सके खगों सा मेरा कवि
फिर हो प्रभात,—फिर आवे रवि!

(अक्तूबर '३५)

मानव

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम !
यौवन ज्वाला से वेष्ठित तन,
मृदु त्वच, सौन्दर्य प्ररोह अङ्ग, उन्नत
न्योछावर जिन पर निखिल प्रकृति,
छाया प्रकाश के रूप-रंग !

धावित कृश नील शिराओं में
मदिरा से मादक रुधिर धार,
आँखें हैं दो लावण्य-लोक,
स्वर में निसर्ग-संगीत-सार !
पृथु उर, उरोज ज्यों सर, सरोज,
दृढ़ बाहु प्रलम्ब प्रेम-बन्धन,
पीनोरु स्कन्ध जीवन-तरु के,
कर, पद, अंगुलि, नख-शिख शोभन

यौवन की मांसल, स्वस्थ गन्ध,
नव युग्मों का जीवनोत्सर्ग !
आह्लाद अखिल, सौन्दर्य अखिल,
आः प्रथम-प्रेम का मधुर स्वर्ग !
आशाभिलाष, उच्चाकांक्षा,
उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय,

विश्वास, असद्-सद् का विवेक,
दृढ़ श्रद्धा, सत्य-प्रेम अक्षय !
मानसी भूतियाँ ये अमन्द,
सहृदयता, त्याग, सहानुभूति,
जो स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव,
संस्कृति स्वर्गीय,—स्वभाव-पूर्ति !

मानव का मानव पर प्रत्यय, विश्वास
परिचय, मानवता का विकास,
विज्ञान ज्ञान का अन्वेषण,
सब एक एक, सब में प्रकाश !
प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें,
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव,
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव !

(एप्रिल '३५)

× ताज

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
संग-सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन ?
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान; प्रेत औ' छाया से रति ! !
प्रेम-अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण ?
शव को दें हम रूप, रंग आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?
गत युग के बहु धर्म-रूढ़ि के ताज मनोहर
मानव के मोहान्ध हृदय में किए हुए घर !
भूल गए हम जीवन का सन्देश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर ?

(अक्तूबर '३५)

सुर मुनि वन्दित
मानव पद-तल !
देखो भू को,
स्वर्गिक भू को,
मानव-पुण्य-प्रसू को ?

(१६३८)

चींटी

चींटी को देखा ?
वह सरल, विरल, काली रेखा
तम के तागे सी जो हिल डुल
चलती लघु पद पल पल मिलजुल
वह है पिपीलिका पाँति !
देखो ना, किस भाँति
काम करती वह संतत ?
कन-कन कनके चुनती अविरत !
गाय चराती
धूप खिलाती,
बच्चों की निगरानी करती,
लड़ती, अरि से तनिक न डरती !
दल के दल सेना सँवारती,
घर आँगन, जन-पथ बुहराती !
देखो वह वल्मीकि सुघर,
उसके भीतर है दुर्ग, नगर !
अद्भुत उसकी निर्माण कला,
कोई शिल्पी क्या कहे भला !
उसमें हैं सौध, धाम, जनपथ,
आँगन, गो-गृह, भण्डार अकथ
हैं डिम्ब सद्म, वर शिविर रचित,
ड्योढ़ी बहु, राजमार्ग विस्तृत।
चींटी है प्राणी सामाजिक,
वह श्रमजीवी, वह सुनागरिक !

दो लड़के

मेरे आँगन में, (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे-से लड़के आ जाते हैं अकसर।
नंगे तन, गदबदे, साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले,—पर फुर्तीले।
जल्दी से, टीले के नीचे, उधर, उतर कर
वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर,—
सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फ़ीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली पीली
मासिक पत्रों के कवरों की; औ' बन्दर से
किलकारी भरते हैं, खुश हो-हो अन्दर से।
दौड़ पार आँगन के फिर हो जाते ओझल
वे नाटे छः सात साल के लड़के मांसल!
सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन-मन,
मानव के नाते उर में भरता अपनापन।
मानव के बालक हैं ये पासी के बच्चे,
रोम रोम मानव, साँचे में ढाले सच्चे।
अस्थि-मांस के इन जीवों का ही यह जग घर,
आत्मा का अधिवास न यह,—वह सूक्ष्म, अनश्वर!
न्योछावर है आत्मा नश्वर रक्त-मांस पर,
जग का अधिकारी है वह, जो है दुर्बलतर।
वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भू पर
कैसे रह सकता है कोमल मनुज कलेवर!
निष्ठुर है जड़ प्रकृति, सहज भंगुर जीवित जन,
मानव को चाहिए यहाँ मनुजोचित साधन।

क्यों न एक ही मानव मानव सभी परस्पर
मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर !
जीवन का प्रासाद उठे भू पर गौरवमय,
मानव का साम्राज्य बने,—मानव हित निश्चय।
जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित,
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित।
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,—मानव ईश्वर!
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर!



उन्मादी

झंझा में नीम

सर् सर् मर् मर्
रेशम के-से स्वर भर,
घने नीम दल
लम्बे, पतले, चंचल,
श्वसन-स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल हिल उठते प्रति पल !

वृक्ष शिखर से भू पर
शत शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा लो निर्झर,
मरुत,—कम्प, अर....

झूम झूम झुक झुक कर,
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर सिहर थर् थर् थर्
करता सर् मर्
चर् मर् !

लिप पुत गए निखिल दल
हरित गुञ्ज में ओझल,
वायु वेग से अविरल
धातु-पत्र-से बज कल !

खिसक, खिसक, साँसें भर,
भीत पीत कृश निर्बल,
नीम दल सकल
झर झर पड़ते पल पल !



एकंयाबी

याद

विदा हो गई साँझ, विनत मुख पर झीना आँचल घर,
मेरे एकाकी आँगन में मौन मधुर स्मृतियाँ भर!

वह केसरी दुकूल अभी भी फहरा रहा क्षितिज पर,
नव असाढ़ के मेघों से घिर रहा बराबर अम्बर!
मैं बरामदे में लेटा, शय्या पर, पीड़ित अवयव,
मन का साथी बना बादलों का विषाद है नीरव!

सक्रिय यह सकरुण विषाद,—मेघों से उमड़ उमड़ कर
भावी के बहुस्वप्न, भाव बहु व्यथित कर रहे अंतर!
मुखर विरह दादुर पुकारता उत्कंठित भेकी को,
बर्हं भार से मोर लुभाता मेघ-मुग्ध केकी को,

आलोकित हो उठता सुख से मेघों का नभ चंचल,
अन्तरतम में एक मधुर स्मृति जग जग उठती प्रतिपल!
कम्पित करता वक्ष धरा का घन गभीर गर्जन स्वर,
भू पर ही आ गया उतर शत धाराओं में अम्बर!

भीनी भीनी भाप सहज ही साँसों में घुल मिल कर
एक और भी मधुर गन्ध से हृदय दे रही है भर!
नव असाढ़ की सन्ध्या में, मेघों के तम में कोमल,
पीड़ित एकाकी शय्या पर, शत भावों से विह्वल,

एक मधुरतम स्मृति पल भर विद्युत सी जलकर उज्ज्वल
याद दिलाती मुझे, हृदय में रहती जो तुम निश्चल!

(१६३६)

महात्मा जी के प्रति

निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीप शिखोदय !—
जिनकी ज्योति छटा के क्षण से प्लावित आज दिगंचल,—
गत आदर्शों का अभिभव ही मानव आत्मा की जय
अतः पराजय आज तुम्हारी जय से चिर लोकोज्वल !

मानव आत्मा के प्रतीक ! आदर्शों से तुम ऊपर,
निज उद्देश्यों से महान, निज यश से विशद, चिरंतन;
सिद्ध नहीं तुम लोक सिद्धि के साधक बने महत्तर,
विजित आज तुम नर वरेण्य, गण जन विजयी साधारण !

युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नव संस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर,
साम्राज्यों ने ठुकरा दिया युगों का वैभव पाहन—
पदाघात से मोह मुक्त हो गया आज जन अन्तर !

दलित देश के दुर्दम नेता, हे ध्रुव, धीर धुरन्धर,
आत्मशक्ति से दिया जाति-शव को तुमने जीवन बल;
विश्व सभ्यता का होना था नखशिख नव रूपान्तर,
राम राज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल !

विकसित व्यक्तिवाद के मूल्यों का विनाश था निश्चय,
वृद्ध विश्व सामन्त काल का था केवल जड़ खँडहर !
हे भारत के हृदय ! तुम्हारे साथ आज निःसंशय
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर !

गत संस्कृतियों का, आदर्शों का था नियत पराभव,
वर्ग व्यक्ति की आत्मा पर थे सौध, धाम जिनके स्थित—

तोड़ युगों के स्वर्ण-पाश अब मुक्त हो रहा मानव
जन मानवता की भव संस्कृति आज हो रही निर्मित !

किए प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर,
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक-जीवन-हित;
अधोमूल अश्वत्थ विश्व, शाखाएँ संस्कृतियाँ वर
वस्तु विभव पर ही जनगण का भाव विभव अवलंबित !

वस्तु सत्य का करते भी तुम जग में यदि आवाहन,
सबसे पहले विमुख तुम्हारे होता निर्धन भारत;
मध्य युगों की नैतिकता में पोषित शोषित-जनगण
बिना भाव स्वप्नों को परखे कब हो सकते जाग्रत !

सफल तुम्हारा सत्यान्वेषण, मानव सत्यान्वेषक !
धर्म, नीति के मान अचिर सब, अचिर शास्त्र, दर्शन मत,
शासन जनगण तंत्र अचिर,—युग स्थितियाँ जिनकी प्रेषक,
मानव गुण, भव रूप नाम होते परिवर्तित युगपत् !
पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिंसक,
मुक्त-हुए-तुम-मुक्त हुए-जन, हे जग वंद्य महात्मन् !
देख रहे मानव भविष्य तुम मनश्चक्षु बन अपलक,
धन्य तुम्हारे श्री चरणों से धरा आज चिर पावन।

(१६३६)

भारत माता
ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी।

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में
प्रवासिनी।

तीस कोटि सन्तान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्रजन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक
तरु तल निवासिनी!

स्वर्ण शस्य पर-पद तल लुंठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी।

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया-शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !

सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी।

(जनवरी, १६४०)



ग्राम युवती

उन्मद यौवन से उभर
घटा सी नव असाढ़ की सुन्दर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मंद चरण,
इठलाती आती ग्राम युवति
वह गजगति
सर्प डगर पर!

सरकाती-पट,
खिसकाती-लट,—
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट!
हँसती खल खल
अबला चंचल
ज्यों फूट पड़ा हो स्रोत सरल
भर फेनोज्वल दशनों से अधरों के तट!

वह मग में रुक
मानो कुछ झुक,
आँचल सँभालती, फेर नयन मुख
पा प्रिय पद की आहट;
आ ग्राम युवक
प्रेमी याचक,

जब उसे ताकता है इकटक,
उल्लसित,
चकित,
वह लेती मूँद पलक पट।
पनघट पर
मोहित नारी नर!—
जब जल से भर
भारी गागर
खींचती उबहनी वह, बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
खिंचते संग युग रस भरे कलश;—
जल छलकाती,
रस बरसाती
बल खाती वह घर को जाती,
सिर पर घट
उर पर धर पट!
कानों में अड़हुल
खोंस,— धवल
या कुंई, कनेर, लोध पाटल;
वह हरसिंगार से कच सँवार,
मृदु मौलसिरी के गूँथ हार,
गउओं सँग करती वन विहार,
पिक चातक के सँग दे पुकार,—
वह कुंद काँस से,
अमलतास से,
आम्र मौर, सहजन, पलाश से,
निर्जन में सज ऋतु सिंगार।

तन पर यौवन सुषमाशाली,
मुख पर श्रम कण, रवि की लाली
सिर पर धर स्वर्ण शस्य डाली,
वह मेंडों पर आती जाती,
उरु मटकाती
कटि लचकाती,
चिर वर्षातप हिम की पाली
धनि श्याम वरण,
अति क्षिप्र चरण,
अधरों से धरे पकी बाली।

रे दो दिन का
उसका यौवन!
सपना छिन का
दुखों से पिस,
दुर्दिन में घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन!
ढह जाता असमय यौवन धन!
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस खेला कुछ क्षण!!

(१६४०)

ग्राम चित्र

यहाँ नहीं है चहल पहल वैभव विस्मित जीवन की,
यहाँ डोलती वायु म्लान सौरभ मर्मर ले वन की।
आता मौन प्रभात अकेला, सन्ध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया सी।
यहाँ नहीं विद्युत् दीपों का दिवस निशा में निर्मित,
अँधियाली में रहती गहरी अँधियाली भय-कल्पित।
यहाँ खर्व नर (वानर?) रहते युग युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित।
यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित!
झाड़ फूँस के विवर,—यही क्या जीवन शिल्पी के घर?
कीड़ों से रेंगते कौन ये? बुद्धि प्राण नारी नर?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में!
यह रवि शशि का लोक: जहाँ हँसते समूह में उडगण,
जहाँ चहकते विहग, बदलते क्षण क्षण विद्युत् प्रभ घन।
यहाँ वनस्पति रहते, रहती खेतों की हरियाली,
यहाँ फूल हैं, यहाँ ओस, कोकिला, आम की डाली!
ये रहते हैं यहाँ,—और नीला नभ, बोई धरती,
सूरज का चौड़ा प्रकाश, ज्योत्स्ना चुपचाप विचरती!
प्रकृति धाम यह: तृण तृण, कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विपण्ण जीवन्मृत!!

(१९४०)

धोबियों का नृत्य

लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
नाच गुजरिया हरती मन!

उसके पैरों में घुँघरू कल,
नट की कटि में घंटियाँ तरल,
वह फिरकी सी फिरती चंचल,
नट की कटि खाती सौ सौ बल,
लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
ठुमुक गुजरिया हरती मन!

उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन,
औ' हुड़क घुड़कता ढिम ढिम ढिन
मंजीर खनकते खिन खिन खिन,
मद मस्त रजक, होली का दिन,
लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
थिरक गुजरिया हरती मन!

वह काम शिखा सी रही सिहर,
नट की कटि में लालसा भँवर,
कँप कँप नितम्ब उसके थर् थर्
भर रहे घंटियों में रति स्वर,

लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
मत्त गुजरिया हरती मन।

फहराता लहँगा लहर लहर,
उड़ रही ओढ़नी फर् फर् फर,
चोली के कन्दुक रहे उघर,
(स्त्री नहीं गुजरिया, वह है नर)
लो, छन छन, छन छन,
हुलस गुजरिया हरती मन!

उर की अतृप्त वासना उभर
इस ढोल मँजीरे के स्वर पर
प्रिय जनगण को उत्सव अवसर,—
लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
चतुर गुजरिया हरती मन।

(१९४०)



ग्राम्या

ग्राम-श्री

फैली खेतों में दूर तलक,
मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटीं जिससे रवि की किरणें
चाँदी की सी उजली जाली।

तिनकों के हरे हरे तन पर
हिल हरित रुधिर है रहा झलक,
श्यामल भूतल पर झुका हुआ
नभ का चिर निर्मल नील फलक।

रोमांचित सी लगती वसुधा
आई जौ गेहूँ में बाली,
अरहर सनई की सोने की
किंकिणियाँ हैं शोभा शाली।

उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध,
फूली सरसों पीली पीली,
लो, हरित धरा से झाँक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली।

रँग रँग के फूलों में रिलमिल
हँस रही संखिया मटर खड़ी,
मखमली पेटियों सी लटकीं
छीमियाँ, छिपाए बीज लड़ी।

फिरती है रँग रँग की तितली
रँग रँग के फूलों पर सुन्दर,

फूले फिरते हों फूल स्वयं
उड़ उड़ वृन्तों से वृन्तों पर।
अब रजत स्वर्ण मंजरियों से
लद गईं आम्र तरु की डाली,
झर रहे ढाँक, पीपल के दल,
हो उठी कोकिला मतवाली।

महके कटहल, मुकुलित जामुन,
जंगल में झरबेरी झूली,
फूले आड़ू, नीबू, दाड़िम,
आलू गोभी बैंगन मूली।

पीले मीठे अमरूदों में
अब लाल लाल चित्तियाँ पड़ीं,
पक गए सुनहले मधुर बेर,
अँवली से तरु की डाल जड़ीं।

लहलह पालक महमह धनिया,
लौकी औ' सेम फलीं फैलीं,
मखमली टमाटर हुए लाल,
मिरचों की बड़ी हरी थैली।

गंजी को मार गया पाला,
अरहर के फूलों को झुलसा,
हाँका करती दिन भर बन्दर
अब मालिन की लड़की तुलसी।

बालाएँ गजरा काट काट,
कुछ कह गुपचुप हँसतीं किन किन,

चाँदी की सी घंटियाँ तरल
बजती रहतीं रह रह खिन खिन।

छायातप के हिलकोरों में
चौड़ी हरीतिमा लहराती,
ईखों के खेतों पर सुफेद
काँसों की भण्डो फहराती।

ऊँची अरहर में लुका छिपी
खेलतीं युवतियाँ मदमाती,
चुम्बन पा प्रेमी युवकों के
श्रम से श्लथ जीवन बहलातीं।

बगिया के छोटे पेड़ों पर
सुन्दर लगते छोटे छाजन,
सुन्दर गेहूँ की बालों पर
मोती के दानों-से हिमकन।

प्रातः ओझल हो जाता जग,
भू पर आता ज्यों उतर गगन,
सुन्दर लगते फिर कुहरे से
उठते से खेत बाग, गृह, बन!

बालू के साँपों से अंकित
गंगा की सतरङ्गी रेती।
सुन्दर लगती सरपत छाईं
तट पर तरबूजों की खेती।

अँगुली की कंघी से बगुले
कलँगी सँवारते हैं कोई।

तिरते जल में सुरखाब, पुलिन पर
मगरौठी रहती सोई।

डुबकियाँ लगाते सामुद्रिक,
धोतीं पीली चोंचें धोबिन,
उड़ अबाबील, टिटहरी, बया,
चाहा चुगते कर्दम, कृमि, तृन।

नीले नभ में पीलों के दल
आतप में धीरे मँडराते,
रह रह काले, भूरे, सुफ़ेद
पंखों में रँग आते जाते।

लटके तरुओं पर विहग नीड़
वनचर लड़कों को 'हुए ज्ञात,
रेखा छवि विरल टहनियों की
ठूँठे तरुओं के नग्न गात।

आँगन में दौड़ रहे पत्ते,
घूमती भँवर सी शिशिर वात।
बदली छँटने पर लगती प्रिय
ऋतुमती धरित्री सद्यस्नात।

हँसमुख हरियाली हिम आतप
सुख से अलसाए-से सोए,
भीगी अँधियाली में निशि की
तारक स्वप्नों में-से खोए,—

मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम—
जिसपर नीलम नभ आच्छादन,—
निरुपम हिमांत में स्निग्ध शांत
निज शोभा से हरता जन मन !

(१९४०)



सघानके

गंगा

अब आधा जल निश्चल, पीला,—
आधा जल चंचल औ' नीला,—
गीले तन पर मृदु संध्यातप
सिमटा रेशम पट सा ढीला।

....

ऐसे सोने के साँझ प्रात,
ऐसे चाँदी के दिवस रात,
ले जाती बहा कहाँ गंगा
जीवन के युग-क्षण,—किसे ज्ञात !

विश्रुत हिम पर्वत से निर्गत,
किरणोज्ज्वल चल कल ऊर्मि निरत,
यमुना गोमती आदि से मिल
होती यह सागर में परिणत।

यह भौगोलिक गंगा परिचित,
जिसके तट पर बहु नगर प्रथित,
इस जड़ गंगा से मिली हुई
जन गंगा एक और जीवित !

वह विष्णुपदी, शिवमौलि स्रुता,
वह भीष्म प्रसू औ' जह्नु सुता,
वह देव निम्नगा, स्वर्गंगा,
वह सागर पुत्र तारिणी श्रुता।

वह गंगा, यह केवल छाया,
वह लोक चेतना, यह माया,
वह आत्मवाहिनी ज्योति सरी,
यह भू पतिता, कंचुक काया।

वह गंगा जन मन से निःसृत,
जिसमें बहु बुद्बुद युग नर्तित,
वह आज तरंगित संसृति के
मृत सैकत को करने प्लावित।

दिशि दिशि का जन मत वाहित कर,
वह बनी अकूल अतल सागर,
भर देगी दिशि पल पुलिनों में
वह नव नव जीवन की मृद् उर्वर!

....
अब नभ पर रेखा शशि शोभित
गंगा का जल श्यामल कम्पित,
लहरों पर चाँदी की किरणें
करतीं प्रकाशमय कुछ अंकित!

(१६४०)



१६४०

समर भूमि पर मानव शोणित से रंजित निर्भीक चरण धर,
अभिनन्दित हो दिग् घोषित तोपों के गर्जन से प्रलयंकर,
शुभागमन नव वर्ष कर रहा, हालाडोला पर चढ़ दुर्धर,
वृहद् विमानों के पंखों से बरसा कर विष-वह्नि निरन्तर।

इधर अड़ा साम्राज्यवाद, शत शत विनाश के ले आयोजन,
उधर प्रतिक्रिया रुद्ध शक्तियाँ क्रुद्ध दे रहीं युद्ध निमन्त्रण !
सत्य न्याय के बाने पहने, स्वत्व लुब्ध लड़ रहे राष्ट्रगण,
सिन्धु तरंगों पर क्रय विक्रय स्पर्धा उठ गिर करती नर्तन !

धू-धू करती वाष्प-शक्ति, विद्युत्-ध्वनि करती दीर्ण दिगन्तर
ध्वंस भ्रंश करते विस्फोटक धनिक सभ्यता के गढ़ जर्जर !
तुमुल वर्ग संघर्ष में निहित जनगण का भविष्य लोकोत्तर,
इन्द्रचाप पुल सा नव वत्सर शोभित प्रलयप्रभ मेघों पर !

आओ हे दुर्धर्ष वर्ष ! लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
विंश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन !

(१६४०)



तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!

भव-कर्म आज युग की स्थितियों से है पीड़ित,
जग का रूपान्तर भी जनैक्य पर अवलम्बित,
तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!

चित् शून्य,—आज जग, नव निनाद से हो गुंजित,
मत जड़,—उसमें नव स्थितियों के गुण हों जाग्रत,
तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आर पार
झंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अन्धकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!

(१६

अनुक्रमणिका